खोजबीन

मार्च–अप्रैल–2009

अंक : 6

बच्चे की भाषा

खोजबीन

अंक–6

मार्च–अप्रैल–2009

इस अंक में पढ़िए

मातृभाषा में शिक्षा : कुछ सवाल	विजय एस. वर्मा	1
क्यों नहीं समझ पा रही हूं बच्चों की ज़ुबान?	शहनाज़ डी.के.	3
वड़लो बनाम बरगद	गिरीश शर्मा	4
मातृभाषा की अंगुली पकड़ कर...	अनीसा तलत टीनवाला	7
क्या अंग्रेज़ी सीखना ज़रूरी है?	दिलीप सिंह	9
बांणे तावड़ा में जाईने ऊबो वेई जा नी	नीता मिश्रा	11
बच्चे और भाषा	–	12
लोकतंत्र की स्थापना तभी होगी...	ए. के. पालीवाल	13
...नहीं तो ज्ञान से वंचित रहेंगे	आर.एल. श्रीमाल	15
मातृभाषा के निहितार्थ	भागचंद्र कुमावत	16
क्या हो शिक्षा का माध्यम?	वि.वि. सिंह	17
एनसीएफ –2005 और भाषा	–	19
शिक्षा का माध्यम – मातृभाषा बनाम अंग्रेज़ी	शिवदत्त	24
ग्रामीण भारत की शिक्षा	रवींद्रनाथ टैगोर	27
बहुभाषिता, साक्षरता, भाषा–शिक्षण एवं बौद्धिक विकास	रमा कांत अग्निहोत्री	30
समझ का माध्यम–एक परिसंवाद	संजय तिवारी, विद्या डांगे, बी.आर. साहू	34
इंसान के सृजन में भाषा	रोहित धनकर	37
बिल्ली की भाषा	पी.एस. रामानुजं	43

आवरण चित्र : के. आर. शर्मा

सहयोग राशि : एक अंक : पच्चीस रुपए, वार्षिक : एक सौ पचास रुपए मात्र (बैंक या बैंक ड्राफ्ट – विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के नाम बनवाएं।)

परामर्श एवं प्रबंध
हृदय कांत दीवान

संपादक
के.आर. शर्मा

संपादन सहयोग
भागचंद्र कुमावत
कुमार अनुपम
गिरीश शर्मा

चित्रांकन
प्रशांत सोनी

ले–आउट
इसरार अहमद

रचनाएं भेजने और पत्र–व्यवहार के लिए संपर्क करें
विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र, फतहपुरा, उदयपुर (राज.)
email : vbsudr@yahoo.com, फोन : 0294–2451497

सौजन्य : आईसीआईसीआई (सेंटर फॉर एलिमेंट्री एज्यूकेशन) के सहयोग से।

मातृभाषा में शिक्षा कुछ सवाल

विजय एस. वर्मा

मैं भाषा के सवाल पर पहले तो यह कहना चाहता हूं कि हमारी बातचीत में एक सफ़ाई की आवश्यकता है। जब मातृभाषा कहते हैं तो शायद मन में सोच लेते हैं कि प्रदेश की भाषा का ज़िक्र हो रहा है। लेकिन मातृभाषा और प्रदेश की भाषा में बहुत फ़र्क़ है। एक भाषायी सर्वेक्षण उपलब्ध है जो सरकार ने करवाया है। इस समय लगभग हर प्रदेश में बहुत बड़े अनुपात में भाषायी अल्पसंख्यक मौजूद हैं, जिनकी मातृभाषा प्रदेश की भाषा से भिन्न है। कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहां पर 40 प्रतिशत लोगों की मातृभाषा प्रदेश की भाषा से भिन्न है। अभी बड़े–बड़े प्रदेशों में यह सारा डाटा उपलब्ध है, छपा हुआ है और शायद वेबसाइट पर भी होगा, आप निकाल सकते हैं उसमें से। इसलिए हम सतर्क रहें जब हम मातृभाषा कहते हैं, स्पष्ट हो जाएं कि हम मातृभाषा की बात कर रहे हैं या प्रदेश की भाषा की बात कर रहे हैं। जहां तक शिक्षा के माध्यम का सवाल है, ये किसी का विचार नहीं है, इस क्षेत्र में जो भाषा के ऊपर काम करते हैं कि अंग्रेज़ी नहीं पढ़ाई जानी चाहिए ऐसा हिन्दुस्तान में किसी का विचार नहीं है।

जो लोग मातृभाषा को माध्यम बनाने की बात करते हैं वे सब सहमत हैं कि अंग्रेज़ी एक भाषा के रूप में अवश्य पढ़ाई जानी चाहिए और अच्छी गुणवत्ता की अंग्रेज़ी पढ़ाई जानी चाहिए। जब भी पढ़ाई जाए अच्छी गुणवत्ता की पढ़ाई जाए। उसके नाम पर मखौल न किया जाए जैसाकि आजकल सरकारी स्कूलों में होने लगा है। ऐसा मज़ाक न किया जाए कि अंग्रेज़ी न जाननेवाले शिक्षकों को कहा जाता है, तुम पहली कक्षा में पढ़ाना शुरू कर दो। स्टैण्ड फिर क्या है? स्टैण्ड यह है जहां तक मैं जानता हूं, समझता हूं और उसके ऊपर एक बहुत अच्छा विचार पत्र एनसीईआरटी ने लिखवाया है। फोकस ग्रुप की अध्यक्षता प्रो. रमा कांत अग्निहोत्री ने की है। वह बहुत बढ़िया क्वालिटी का विचार पत्र है। उससे आपकी सहमति या असहमति हो सकती है। लेकिन उसमें दुनिया भर का जो शोध है, भाषा शिक्षण के सवाल से जुड़ा हुआ, उसका निचोड़ सारे पत्रों के संदर्भ समेत वहां मौजूद है। मेरे ख़्याल से इस समय सारी दुनिया में भाषा शिक्षण पर जो सर्वोत्तम विचार पत्र होंगे उनमें उसकी गिनती की जाएगी। इतना बढ़िया गुणवत्ता का लिखा हुआ है। उससे आप असहमत हो सकते हैं, वह अलग बात है। उसमें क्या कहा गया है मैं उसकी बातों को आपके सामने रख रहा हूं। उन्होंने यह कहा है कि मातृभाषा से बेहतर ज्ञान प्राप्ति का और कोई माध्यम नहीं हो सकता।

केवल प्रारंभिक वर्षों में ही नहीं, यानी पहली, दूसरी, तीसरी कक्षा में ही नहीं, लेकिन बाद में भी किस स्टेज पर मातृभाषा की जगह पर प्रदेश की

भाषा लगाई जाए यह एक व्यावहारिक प्रश्न हो सकता है, सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं है। सैद्धान्तिक प्रश्न तो यह है कि मातृभाषा के ज़रिए ही पढ़ाया जाए पर चूंकि व्यावहारिकता मांग करती है कि समय आने पर चौथी में, पांचवीं कक्षा में किसी स्टेज पर मातृभाषा की जगह पर प्रदेश की भाषा आए अन्यथा उस बच्चे को आगे चलकर बहुत सी समस्याएं आ जाएंगी। यह स्टैण्डर्ड कुछ न कुछ जुड़ाव मातृभाषा में और प्रदेश की भाषा में शब्दावली का, वाक्यांशों का, व्याकरण का, होता ही है आम तौर पर।

तीसरी बात, जो बड़ी महत्त्वपूर्ण कही है वह यह है कि अंग्रेज़ी सीखने के लिए भी मातृभाषा से बेहतर और कोई माध्यम नहीं है। ज्ञान प्राप्ति के लिए तो कहा ही है फिजिक्स, केमेस्ट्री सीखने के लिए भी मातृभाषा बेहतर माध्यम है। लेकिन अंग्रेज़ी सीखने के लिए भी मातृभाषा से बेहतर माध्यम नहीं है यह बहुत सारे समकालीन शोध पत्रों के आधार पर विचार पत्र में कहा गया है। यह तो मैं केवल आपको स्थिति बता रहा हूं। एक स्थिति और बता दूं संविधान की, जिसके ऊपर कभी किसी ने गंभीरता से ध्यान नहीं दिया। संविधान का अनुच्छेद ''350 अ'' सबको पढ़ लेना चाहिए। ''350 अ'' यह कहता है कि किसी भी भाषायी अल्पसंख्यक समुदाय के बच्चे को प्राथमिक स्तर तक अपनी मातृभाषा के ज़रिए सीखने का अधिकार है। इससे बढ़िया बात अगले वाक्य में है। अगर वे सुविधाएं राज्य सरकार ने उस बच्चे को उपलब्ध नहीं कराईं तो भारत का राष्ट्रपति राज्य सरकार को निर्देशित कर सकता है सुविधाएं देने के लिए। मेरी जानकारी में भारतीय संविधान में यह एकमात्र अनुच्छेद है जो भारत के राष्ट्रपति को एक्ज़्यूकेटिव पावर देता है, और कोई अनुच्छेद नहीं देता। बाक़ी सब जगह वह केबिनेट की सलाह पर एक्ट करेगा। आप समझ सकते हैं कि संविधान सभा में जो बहस हुई, उसमें भाषा के, मातृभाषा के इस सवाल पर कितनी प्रखरता से बहस हुई होगी और इस बहस को संतुलित ढंग से कैसे नापा गया यह कहकर कि हम राष्ट्रपति को अधिकार दे देते हैं राज्य सरकार को निर्देशित करने का। मेरी जानकारी में अनुच्छेद ''350 अ'' का कभी उपयोग नहीं हुआ, न दुरुपयोग हुआ न सदुपयोग हुआ। वैसे ही पड़ा हुआ है यह भाषा का प्रावधान।

मुझे जो लोगों ने बताया जिसके आधार पर कहते हैं कि मातृभाषा में शिक्षण होना चाहिए, वह विदेशों में हुई रिसर्च के ऊपर आधारित है। मैं केवल इतना ही कहना चाहूंगा कि कैलिफोर्निया में अगर स्पेनिश भाषी बच्चों को स्पेनिश भाषा में सिखाया जाए और यह उसका निष्कर्ष निकाला जाए कि वे ज़्यादा अच्छी तरह से अध्ययन कर पाते हैं तो कहां तक वह शोध हमारे देश में लागू हो सकती है, यह सोचनेवाली बात है। क्योंकि स्पेनिश एक वृहद् भाषा है और उसमें शिक्षण के लिए काफ़ी कुछ सामग्री उपलब्ध हैं, जो कि शायद हमारी मातृभाषाओं में अभी नहीं हैं। अगर मैं यहां सिद्धान्तों का सवाल नहीं भी उठाऊं तो हमारे दिमाग़ में एक व्यावहारिक सवाल है, जिसका मैं उत्तर चाहूंगा।

कहने को तो मेरी मातृभाषा हिन्दी है मगर वैसी हिन्दी नहीं, मेरी मातृभाषा भोजपुरी है। भोजपुरी और हिन्दी की व्याकरण में बहुत अंतर है। इसलिए उसको एक अलग हिन्दी की बोली कह देना सही नहीं होगा। एक प्रांत में बहुत सारी मातृभाषाएं होंगी, उसको ध्यान में रखने की ज़रूरत है। मैं अपना ही उदाहरण ले लूं। जब मैं स्कूल में पढ़ा करता था तो हमारे साथ कुछ बच्चे थे जो मगही बोलते थे, कुछ भोजपुरी बोलते थे, कुछ पंजाबी बोलते थे, कुछ हिन्दी बोलते थे, कुछ बंगला बोलते थे, कुछ उड़िया भी बोलते थे। अब 30–35 बच्चों की ऐसी कक्षा में शिक्षक कितनी भाषाओं में पढ़ाएगा और शिक्षण के लिए कैसे इन सभी भाषाओं में पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराई जाएगी? यह हमारे सामने एक बहुत बड़ा सवाल है, जिसका उत्तर मैं नहीं जानता हूं इस समय।

(11,12 मार्च 2006 को विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में आयोजित सेमीनार में दिया गया वक्तव्य।)

विजय एस. वर्मा – दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिकशास्त्र के प्राध्यापक रहे हैं। स्कूली शिक्षा में सक्रिय भागीदारी।

क्यों नहीं समझ पा रही हूं बच्चों की जुबान?

शहनाज़ डी.के.

कुछ वर्षों पहले जब मैंने प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ाना प्रारम्भ किया था तब मैं मातृभाषा का कक्षा में कोई महत्त्व नहीं समझ पाई थी। हमारे विद्यालय में आनेवाले बच्चे गांव के परिवेश में पले–बढ़े होते हैं। जब मैंने पहली बार कक्षा में प्रवेश किया तो बच्चे एकदम सहमे हुए और चिंतित चेहरों के साथ बैठे दिखाई दिए। कई दिनों तक मुझे इसका कारण समझ में नहीं आया। कई बार कक्षा में मुझे लगता कि बच्चे कुछ कहना चाहते हैं पर कह नहीं पाते। कुछ महीनों बाद परीक्षा का समय आया। मैंने कक्षा चौथी और पांचवी के बच्चों की मौखिक परीक्षा लेनी शुरू की। परीक्षा में कुछ बच्चे बोलते ही नहीं, कुछ बच्चे आधी–अधूरी बात करते। मैं काफ़ी परेशान हो रही थी कि ऐसी परीक्षा से क्या फ़ायदा जिसमें बच्चे क्या समझ रहे हैं, यह पता ही नहीं लगाया जा सकता। एक बच्चा जो काफ़ी चंचल स्वभाव का था वह परीक्षा देने मेरे पास आया। मैंने उससे पूछा कि बताओ धूप से हमें क्या प्राप्त होता है? उसने जवाब दिया ''तावड़ा ऊ तपे', ''तावड़ा मु रूंकणा कमलाई जावे''। मेरी कुछ समझ में नहीं आया। मैंने सोचा बच्चे को नम्बर कैसे दूं। एक तरीक़ा था कि मैं उस बच्चे को कुछ अंक दे दूं। फिर मुझे लगा क्यों न किसी साथी शिक्षक से पूछ लूं। मैंने गांव से आनेवाले अपने विद्यालय के अध्यापक से पूछा कि मेवाड़ी में दिए गए उत्तर का क्या मतलब है? उन्होंने कहा कि मैडम बच्चा कह रहा है कि ''धूप में गर्मी लगती है'' और ''धूप में पौधे मुरझा जाते हैं।'' मैं आश्चर्य से उनकी तरफ देखने लगी। मैंने सोचा अपने मेवाड़ी भाषा की अज्ञानता के कारण बच्चों के नम्बर क्यों काट रही हूं? उसे तो पूरा उत्तर भली–भांति आता है। इस घटना के बाद मैं उन्हें कक्षा में भी मेवाड़ी में उत्तर देने के लिए प्रोत्साहित करती रही और बच्चों का धीरे–धीरे बोलने का डर जाता रहा।

कुछ महीनों बाद मुझे अहसास हुआ कि बच्चे अब मुरझाए चेहरे लिए नहीं आते बल्कि वे अब कक्षा में काफ़ी खुश नज़र आने लगे और गलत बोलने का डर भी काफ़ी कम हो चुका है। अब वे ऐसा नहीं सोचते कि मेवाड़ी बोलने पर हमें डांटा जाएगा। इस प्रक्रिया में मैंने देखा कि पहले केवल हिन्दी में बातचीत और पढ़ाई करने पर बच्चों को काफ़ी सारी बातें समझ में ही नहीं आती थीं परन्तु मेवाड़ी में बातचीत के साथ–साथ वे बराबर हिन्दी में भी उन शब्दों को समझने लगे क्योंकि केवल हिन्दी में वे शब्द उनके लिए निरर्थक थे जो मेवाड़ी से जुड़ने के बाद जाने–पहचाने लगने लगे। इस प्रकार उनका हर विषय के साथ लगाव बढ़ने लगा।

ऐसा ही एक और उदाहरण मैं बताना चाहूंगी। अभी कुछ समय पहले कक्षा चौथी में एक कविता की अभिव्यक्ति की बात हम कक्षा में कर रहे थे। मैंने बच्चों से कहा इस कविता की कहानी के बारे में जो भी समझ में आया उसे लिखो। दूसरे दिन सभी बच्चे कहानी लिख लाए। एक बच्चा पूरी कविता के बारे में मेवाड़ी में लिख लाया और कॉपी मेरे सामने रख दी। मुझे पढ़कर समझ तो आ गया पर मज़ा नहीं आया। मैंने उससे कहा तुम ही सबको पढ़कर सुनाओ। उसने जब सुनाया तो सभी बच्चे हंस–हंसकर बेहाल हो गए। मैंने उससे पूछा कि तुमने मेवाड़ी में क्यों लिखा? उसने कहा एक तो ''पढ़क्कू की सूझ'' पाठ किसान से बातचीत के बारे में है इसलिए मेवाड़ी में ही मज़ा आता है। और दूसरी बात उसने कही कि मुझे ऐसे लिखने से बराबर और पूरा लिखना आ गया। ऐसा अच्छा हिन्दी में नहीं आता। इन घटनाओं से मुझे मातृभाषा के महत्त्व का अहसास हुआ।

शहनाज़ डी.के., विद्या भवन बेसिक स्कूल रामगिरि में अध्यापिका हैं।

वड़लो बनाम बरगद

गिरीश शर्मा

बच्चे जब विद्यालय आते हैं तब मातृभाषा की क्या अहमियत होती है यह मैंने राजस्थान राज्य के सिरोही, टोंक और बारां ज़िले के विद्यालयों का अवलोकन करने पर जाना। इस दरमियान अनुभव हुआ कि वास्तव में बच्चे विद्यालय में कुछ सीख क्यों नहीं पाते हैं। आख़िर उनके सीखने और अध्यापकों के सिखाने में कहां कमी रह जाती है।

एक बार मुझे एक विद्यालय में बच्चों के साथ संवाद करने का मौक़ा मिला। बच्चे कक्षा सातवीं के थे। मैंने बच्चों से कहा कि चलो अपने आस–पास पाए जानेवाले पेड़ों के नाम बताओ। अब बच्चे जवाब देने लगे। वे बोल रहे थे – नीम, बबूल, आम, अनार,

पीपल आदि। इनमें से अधिकांश पेड़ों के नामों को वे स्थानीय भाषा में बोल रहे थे जैसे नीम को 'लीमड़ा', आम को 'कैरी' आदि। उनसे पूछा कि बड़ के पेड़ के बारे में जानते हो? इस पर बच्चे इधर–उधर देखने लगे। मुझे लगा शायद उन्होंने इस पेड़ का नाम पहली बार सुना है। एक बच्ची ने पूछा यह कैसा पेड़ होता है? मैंने कहा वह पेड़ जिसकी जड़ें लटकती रहती है। इस पर उसकी एक साथी समझ गई और बोली ''बड़ नी जाने। ऐ वेंडी वड़लो, वड़लो।'' तब बच्ची पूछती है कि सर क्या परीक्षा में बड़ के पेड़ को वड़लो लिख सकती हूं? इसी प्रकार राष्ट्रीय पशु की बात आई तो एक बालिका ने पूछा कि क्या शेर को 'चितरा' लिखूंगी तो नंबर तो नहीं कटेंगे?

आम तौर पर इस संबंध में अध्यापकों से बात करने पर उनकी प्रतिक्रिया होती है कि बच्चों को लिखना ही नहीं आता। वे कहते हैं कि बच्चे बोलते क्या हैं और लिखते क्या हैं। कितनी ही मेहनत कर लो ये समझते ही नहीं हैं। यह देखी हुई बात है कि पढ़ाते समय अध्यापक अक्सर स्थानीय भाषा का प्रयोग भी करते हैं। लेकिन जब परीक्षा में जवाब की बारी आती है तो उनकी अपेक्षा रहती है कि बच्चों का जवाब वही हो जो किताब में लिखा हो। बच्चों को अपनी मातृभाषा में जवाब तो आता है। लेकिन उन्हें यह भी डर होता है कि इसे लिखते ही अध्यापक अंक काट लेंगे। यह भी सही है कि यदि बच्चे ने शेर की जगह 'चितरा' लिख दिया तो शिक्षा व्यवस्था उस उत्तर को अस्वीकार कर देती है।

बारां ज़िले में एक कक्षा–कक्ष अवलोकन के दौरान महसूस किया कि अध्यापक बच्चों से रोज़ाना कक्षा के बाहर तो स्थानीय भाषा में बात करते हैं लेकिन कक्षा–कक्ष में हमारी उपस्थिति के दौरान बच्चों से हिन्दी में बात करने की कोशिश करते। ऐसा इसलिए लग रहा था कि वे जो शब्द बोलने में इस्तेमाल कर रहे थे सोच–सोचकर बोल रहे थे। साथ ही ऐसा लग रहा था कि वे ज़बरदस्ती बोल रहे हों। उनके व्यवहार में भाषाई बनावटीपन लग रहा था। भाषा में हिन्दी और स्थानीय भाषा का मिला–जुला असर दिख रहा था। अध्यापक और बच्चे दोनों असहज थे। इसके साथ ही बच्चे जब जवाब दे रहे थे या अध्यापक से कुछ पूछ रहे थे या अन्य बच्चों की शिकायत कर रहे थे तो वे अध्यापक से स्थानीय भाषा में ही संवाद कर रहे थे।

जहां तक स्कूलों के माध्यम का सवाल है तो इसमें गांव के स्कूल भी पीछे नहीं हैं। अभिभावक फ़ीस के रूप में मोटी रकम देकर भी अपने बच्चों को अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ाना चाहते हैं। इसका अनुभव बारां ज़िले में एक गांव में हुआ। यहां क़रीब तीन सौ की आबादी है। गांव में एक राजकीय प्राथमिक स्कूल भी है। लेकिन वहां बहुत कम बच्चे जाते हैं। गांव के अधिकांश बच्चे सुबह–सुबह अकेले ही पैदल क़रीब तीन किलोमीटर दूर अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने जाते हैं और दोपहर दो बजे तक लौटते हैं। सिरोही ज़िले में भी ऐसे कई अंग्रेज़ी स्कूल देखने को मिले।

विद्यालयों में अवलोकनों के दौरान यह भी अनुभव हुआ कि अध्यापकों की भाषा भी कई बार बच्चों के सीखने में बाधा उत्पन्न कर देती है। जहां अध्यापक की नियुक्ति किसी अन्य क्षेत्र से होती है तो बच्चों की मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। सिरोही में मैंने कई विद्यालयों में ऐसे शिक्षकों को पाया जो राज्य के दूसरे ज़िलों से आए थे। आरपीएससी के ज़रिए उन्होंने ऐसे जिलों में आवेदन किया जहां शिक्षकों के पद ज़्यादा थे। एक बार नियुक्ति होने के बाद और कुछ समय वहां सेवारत रहने के बाद अपना तबादला करवा लेने की उनकी सोच थी। ऐसे अध्यापकों से बातचीत करने पर यह भी पता चला कि उन्हें मारवाड़ी, (जो कि सिरोही में बोली जाती है) नहीं आती। ऐसे में स्थानीय भाषा में बच्चों को पढ़ाने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। और वे क्या पढ़ाते हैं और बच्चे क्या पढ़ते हैं इस पर भी एक प्रश्न उठता है। इसके दुष्परिणाम वहां के स्कूलों में देखने को मिले। कक्षा में जाकर जब बच्चों से पूछा जाता कि किसके पास पाठ्यपुस्तकें हैं तो सभी अपने हाथ खड़े करके हामी भरते। जब उनसे पाठ्यपुस्तकें दिखाने को कहा जाता तो वे अपने बस्तों से हमें कुंजियां और पासबुक दिखाते। कई स्कूलों में देखा कि सरकार की ओर से निःशुल्क वितरित की जानेवाली पाठ्यपुस्तकें चाहे बच्चों के पास हों या ना हों किन्तु महंगी पासबुकें व कुंजियां ज़रूर मिल जातीं। इसके कई कारण हो सकते हैं लेकिन एक अहम कारण यह समझ में आता है कि बच्चों को या तो अध्यापकों की

भाषा समझ में नहीं आती या किताबों में लिखा हुआ समझ नहीं आता और वे परीक्षा पास करने के लिहाज़ से इनका सहारा लेते हैं।

यदि हम शहरों के विद्यालयों को छोड़ दें तो कुछ में हमें देखने को मिलेगा कि ज़्यादातर अध्यापकों का बच्चों के साथ जो संवाद होता है वह स्थानीय भाषा में होता है। (यह बात अलग है कि कई पब्लिक स्कूलों में तो हिन्दी बोलने पर भी पाबंदी है। चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी हो या बच्चों को स्कूल छोड़ने, लेने आनेवाला ऑटो चालक सभी को बच्चों से अंग्रेज़ी में ही बात करनी होती है।) मगर किसी सरकारी स्कूल में चले जाएं तो दो अध्यापक आपस में स्थानीय भाषा में ही बात करते नज़र आएंगे।

एक बार हम सिरोही ज़िले के एक स्कूल के अवलोकन पर थे। उस दिन ब्लॉक शिक्षा अधिकारी भी उस विद्यालय के निरीक्षण पर आए। वे एक कक्षा में पहुंचे और उन्होंने बच्चों से बात करना प्रारंभ की। वे क्षेत्रीय भाषा में बात कर रहे थे। वे बच्चों से उनकी स्थानीय भाषा में पूछ रहे थे कि अध्यापक पढ़ाते हैं या नहीं? कितना कोर्स हो गया और कितना बाक़ी है? पोषाहार मिलता है या नहीं? आज पोषाहार में क्या मिला? आदि। बच्चे भी स्थानीय भाषा में निःसंकोच जवाब दे रहे थे।

हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं मेवाड़ी तो जानता हूं लेकिन मारवाड़ी ठीक तरह से नहीं जानता। समझ तो जाता लेकिन बोलने में परेशानी होती। साथ ही हमारे जो अन्य साथी थे वे तो मारवाड़ी बिल्कुल नहीं जानते थे क्योंकि वे जयपुर, बिहार, कर्नाटक, और गुजरात से थे। ऐसे में बच्चों से बात करने की कोशिश करने पर बच्चे हमसे कतराते। लेकिन जैसे ही हम उनकी भाषा में बात करने का प्रयास करते वे संकोच छोड़ हमारे नज़दीक आ जाते थे।

लर्निंग गारंटी स्कूल कार्यक्रम के दौरान भी स्थानीय भाषा को लेकर कई अनुभव हुए। शैक्षिक गुणवत्ता में वृद्धि के लिए सरकार व अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने विद्या भवन के सहयोग से सिरोही और टोंक ज़िलों के 1080 स्कूलों में प्रारंभ किया था। इसमें मुख्य फोकस मूल्यांकन था। यदि स्कूलों की मूल्यांकन प्रक्रिया बदल दी जाए तो बच्चे अधिक सीख पाएंगे। यह अध्यापकों को पढ़ाने के तरीक़ों को बदलने के लिए भी प्रेरित करेगा। कार्यक्रम प्रारंभ करने से पूर्व कार्यशालाओं में अध्यापकों से बातचीत की गई जिसमें अध्यापकों ने सवाल उठाए कि हमारे बच्चे तो ग्रामीण परिवेश से आते हैं, आपके द्वारा बनाए गए प्रश्न पत्र वे हल नहीं कर पाएंगे। हमें तो पहले बच्चों को प्रश्न पत्र पढ़कर सुनाना होता है तभी वे लिख पाते हैं आदि। इसलिए मूल्यांकन के दौरान बच्चों को कोई परेशानी न हो और अध्यापकों का भी सहयोग रहे इसका विशेष ध्यान रखा गया। मूल्यांकन दो स्तरों में हुआ। लिखित और मौखिक। हमारी टीम में ज़्यादातर लोग ऐसे थे जो वहां की भाषा से वाक़िफ़ नहीं थे। इसलिए मूल्यांकन टीम में ऐसे लोगों का चयन किया गया जो उस क्षेत्र के ही रहनेवाले हों। वे मूल्यांकन के दौरान प्रश्नपत्र हल करने से पूर्व प्रत्येक प्रश्न को तीन बार पढ़कर बच्चों को निर्देश देते। मौखिक परीक्षा में तो बच्चों की भाषा जानना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता। इसलिए तय किया गया कि प्रत्येक प्रश्न को बच्चे की स्थानीय भाषा में भी दोहराया जाए। साथ ही यदि बच्चा उस प्रश्न का उत्तर स्थानीय भाषा में देता है तो उसकी हंसी नहीं उड़ाई जाए, उसके उत्तरों को स्वीकार किया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि बच्चों ने भयरहित होकर आत्मविश्वास के साथ जवाब दिए।

जब बच्चों की उत्तरपुस्तिकाएं जांची गईं तो उनमें सवालों के कई तरह के जवाब आए। मसलन स्कूल जाते हैं तो लिखा–इसकूल जाते हैं, स्नान करते हैं–सणाण करते हैं, रोटी बनाते हैं–बाटी बनाते हैं। झूला को हीसरा, हिचका लिखा। तितली को ततली आदि लिखा। दरअसल ये जवाब एक स्तर पर सही थे और उनको सही माना गया।

हम यह कह सकते हैं कि अध्यापकों को उस भाषा में बच्चों के साथ संवाद करना चाहिए जिसमें बच्चे सहज महसूस करें। यदि ऐसा होगा तो शिक्षण अधिक प्रभावी होगा तथा बच्चे ज़्यादा सीख पाएंगे।

मूल सवाल विचारों को व्यक्त करने का है उसमें भाषा बाधक नहीं बननी चाहिए।

गिरीश शर्मा – विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र, उदयपुर।

मातृभाषा की अंगुली पकड़कर...

अनीसा तलत टीनवाला

एक छोटा सा बालक तीन या चार साल की उम्र में जब विद्यालय में प्रवेश करता है तब तक वह अपने आस–पास की दुनिया को देख–परख कर बहुत कुछ सीख चुका होता है। काफ़ी हद तक वह चीज़ों के प्रति अवधारणाएं विकसित कर चुका होता है। उसके पास अपना शब्दकोश होता है, वाक्यों की संरचना होती है, अपनी इच्छाएं होती हैं, कार्य करने का एक पैटर्न होता है। बातों को दूसरे लोगों को समझाने का अपना अनुभव होता है। यह उसने अपने परिवार और परिवेश में रहकर सीखा। उसकी पूरी समझ का आधार मातृभाषा होती है।

विद्यालय उसके लिए एक अनूठा अनुभव है। पहली बार परिवार से दूर एक अलग माहौल में उसे स्वयं को स्थापित करना होता है। उसे ज़रूरत होती है अपने नए साथियों को, अपने अध्यापकों को, और नई व्यवस्थाओं को समझने की। साथ ही उसे स्वयं को अभिव्यक्त करने

की भी ज़रूरत होती है। इस समय तक वह सिर्फ़ अपनी मातृभाषा से परिचित होता है और यही उसका संवाद का माध्यम होता है।

मातृभाषा ही उसका सशक्त माध्यम है जिसके सहारे उसे आगे बढ़ना है, ज्ञात से अज्ञात की और जाना है। यहीं उठता है एक बहुत बड़ा सवाल।

क्या बच्चे को मातृभाषा में ही शिक्षा दी जाए? अर्थात् वह जिस भाषा में समझता है उसी भाषा में समझाया जाए?

यही सवाल लेकर मैंने नर्सरी कक्षा में पढ़ानेवाली कुछ शिक्षकाओं से बात की।

सबसे पहले मैंने आबिदा से पूछा कि ''क्या बच्चों को मातृभाषा में पढ़ाना चाहिए?'' उसका जवाब मेरी आशा के विपरीत था 'नहीं'। माना घर और समाज में मातृभाषा चाहिए पर आगे चलकर बहुत दिक़्क़त होगी। उसे सबके साथ भी तो चलना है?

''तो फिर क्या सीधे उसे हिन्दी या अंग्रेज़ी में ही पढ़ाएं?'' मैंने फिर पूछा। जवाब मिला– हां आगे आसानी होगी। अभी तो वह नई भाषा जल्दी पकड़ सकता है। अगर मातृभाषा तक ही सीमित रहेगा तो आत्मविश्वास नहीं बनेगा। हां, थोड़ा समय ज़्यादा लगेगा पर कहीं तो बदलाव होना है।

मैंने फिर पूछा कि अगर वह तुम्हारी बात ही न समझ रहा हो तब तुम क्या करोगी? मानलो वह 'पेड़' शब्द समझे ही नहीं उसके लिए तो वह 'रूंखड़ा' है या 'नहाने' को वह 'हापड़ना' कहता हो तब? इसपर वह बोली–''ऐसे तो समझाना ही पड़ता है।'' आबिदा ने कहा कि वह मुंबई से आई थी तो शुरू में उनकी भाषा ही नहीं समझ पाती थी। हमें भी बच्चों की भाषा सीखने और बोलने की आदत तो डालनी पड़ेगी। हिन्दी समझ लेते हैं पर जो नहीं समझ पाते उन्हें अलग से समझाना पड़ता है। यानी शुरुआत तो मातृभाषा से ही करनी पड़ती है।

इस सवाल पर दो और शिक्षकाओं से भी बात की। सभी ने कुछ अपनी समस्याएं प्रकट कीं। फिर मातृभाषा में किताबें होनी चाहिए। परीक्षा कैसे होगी? अलग–अलग भाषा के अलग समूह, अलग शिक्षक, अलग परीक्षा आदि करनी पड़ेगी। फिर इसके साथ ही हिन्दी, अंग्रेज़ी तो सीखनी ही पड़ेगी क्योंकि टीवी, कंप्यूटर, अख़बार आदि कैसे उपयोग करेंगे?

एक शिक्षक ने अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़नेवाले एक बालक के बारे में बताया। यह बालक जयपुर के पास किसी गांव से उदयपुर के इस स्कूल में पढ़ने आया था। उसे यहां हॉस्टल में रखा गया था। समस्या यह थी कि उसकी भाषा न तो शिक्षक समझ पा रहे थे न ही उसके साथी। शुरू में बालक और अध्यापक दोनों को ही बहुत मुश्किल हुई। प्यार से, इशारों से, चित्रों के ज़रिए संवाद जारी रहा और अनुमान दोनों ने ही एक दूसरे की भाषा सीखी। पर बच्चे ने ज़्यादा तेज़ी दिखाई। आज दो साल बाद वह हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों ही भाषा में काम कर लेता है।

भाषा तो एक माध्यम है जो ज्ञान के आदान–प्रदान को आसान बना देती है। मातृभाषा की अंगुली पकड़कर ही आगे बढ़ा जा सकता है। बच्चे की प्रारम्भिक समझ उसकी मातृभाषा में होती है और शिक्षक को उसकी समझ को आगे बढ़ाने के लिए मातृभाषा का सहारा लेना ही होगा।

प्रारंभिक कक्षाओं में बच्चों पर मातृभाषा बोलने पर भी रोक लगा दी जाती है जो कि अनुचित है। उसकी सोच जब मातृभाषा में है तो उसे उसी भाषा में अभिव्यक्ति करने दिया जाना चाहिए। उसके विचारों को विकसित होने दें। न केवल बोलने में वरन् लिखने में भी उसे छूट दी जाए। ध्यान इस बात पर न हो कि भाषा क्या है या कितनी शुद्ध है? ध्यान इस बात पर हो कि समझ कितनी विकसित हुई है। तथा वह अपनी बात को सही अभिव्यक्त कर पा रहा है या नहीं। जैसे–जैसे वह नई भाषा को सीखने लगेगा उसके विचार अभिव्यक्ति और लेखन में परिवर्तन होता जाएगा।

ये भी सच है कि बच्चों में नई भाषा सीखने की क्षमता अधिक होती है और एक साथ दो–तीन भाषा सीख सकता है। इसलिए उसे मातृभाषा के साथ हिन्दी, अंग्रेज़ी या अन्य मुख्य भाषाएं सिखाई जा सकती हैं जो आवश्यक भी है। समय की मांग को देखते हुए माता–पिता भी अपने बच्चे को मातृभाषा के साथ मुख्य भाषाएं भी सिखाना चाहते हैं।

अनीसा तलत टीनवाला – विद्या भवन सीनियर सैकेंडरी स्कूल में भूगोल पढ़ाती है।

क्या अंग्रेज़ी सीखना ज़रूरी है?

दिलीप सिंह

"क्या सिखाया जाए क्या नहीं" यह सवाल सीधे तौर पर शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों से जुड़ता है। ये उद्देश्य हमें बताते हैं कि शिक्षा के द्वारा किस तरह के ज्ञान, मूल्य एवं कौशलों के विकास करने और बढ़ावा देने की ज़रूरत है जो हमारे आदर्श समाज की तस्वीर गढ़ने में मदद करेंगे। दूसरी ओर इस सवाल का जवाब इस बात पर भी निर्भर करता है कि बच्चा उसे सीखने के लिए तैयार है या नहीं अर्थात् बच्चे के पास उसे सीख पाने के लिए आवश्यक पूर्व तैयारी व क्षमताएं मौजूद हैं या नहीं। इस तरह किसी विषय को स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल करने के लिए चुनाव मोटे तौर पर दो बातों पर निर्भर करता है। पहला यह कि उस विषय का आदर्श समाज के निर्माण में भूमिका तथा दूसरा बच्चों द्वारा उसे सीख पाने की सम्भावनाएं। ''अंग्रेज़ी सिखाई जाए या नहीं'' या फिर ''अंग्रेज़ी सिखाने की ज़रूरत क्या है?'' तो हमें अंग्रेज़ी के संदर्भ में उपरोक्त दोनों पहलुओं की पड़ताल करनी होगी कि क्या अंग्रेज़ी व्यापक सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति में मदद कर सकती है और दूसरा, क्या बच्चे इसे सीख सकते हैं?

सामाजिक लक्ष्यों के रूप में हमने अपने संविधान में अवसर की समानता, निर्णय एवं कर्म की स्वतंत्रता तथा न्याय को चुना है। यहां ज़रूरत होगी अंग्रेज़ी के साथ इन सबके रिश्तों की पड़ताल करने की।

अवसर की समानता से आशय है कि सबको अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए ख़ुद के विकास तथा सामाजिक प्रक्रियाओं में भागीदारी के समान अवसरों की उपलब्धता। ख़ुद के विकास के समान अवसर से आशय है ज्ञान एवं कौशलों को अर्जित करने के समान मौक़े। आज के संदर्भों में अंग्रेज़ी भाषा में अध्ययन व उच्च शिक्षा से संबंधित ज्ञान की उपलब्धता हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के मुक़ाबले ज़्यादा समृद्ध व सहज है। यदि किसी व्यक्ति को अंग्रेज़ी भाषा आती है तो उसके पास ज्ञान तक पहुंचने की सम्भावनाएं ज़्यादा हैं। हालांकि दुनिया में अंग्रेज़ी बोलनेवाले लोगों की संख्या सबसे अधिक नहीं है लेकिन संपर्क भाषा के रूप में अंग्रेज़ी का उपयोग अन्य भाषाओं के मुक़ाबले अधिक होता है तथा दूसरी भाषाओं से किसी एक भाषा में होनेवाले अनुवाद के मामले में भी अंग्रेज़ी अन्य भाषाओं में भारी पड़ती है। जबकि आजकल तो यह भी होने लगा है कि बहुत से लोग अपनी भाषा के बजाय अंग्रेज़ी में लिखने लगे हैं। यह बात यहां ध्यान में रखनी होगी कि अंग्रेज़ी आने मात्र से ज्ञान की प्राप्ति सुनिश्चत नहीं होती। उसके लिए प्रयास करना लाज़मी शर्त है।

यदि हम यह देखने का प्रयास करें कि क्या अंग्रेज़ी भाषा का निर्णय (सोचने–विचारने) एवं कर्म की स्वतंत्रता से भी कोई रिश्ता है। सोचने–विचारने एवं कर्म की स्वतंत्रता से आशय है कि मैं जो सोचता हूं उसे सोचने की, उसके पक्ष में तर्क देने की व लोगों को अपने तर्कों से सहमत करने की क़ाबिलियत, मन का खुलापन तथा सोचे हुए के अनुसार कर्म करने की हिम्मत व आज़ादी, अपने निर्णयों के बारे में सोच पाना की उनका व समाज में जो निर्णय अन्य हो रहे हैं, उनका मेरे व मेरे जैसे अन्य लोगों के जीवन पर क्या असर पड़ेगा। यह देख पाना की यह निर्णय उचित है या नहीं, इस निर्णय के पक्ष या विपक्ष में अपने तर्क गढ़ना व उस अनुसार कर्म करना।

यह सब सोचने–विचारने के लिए जिन बुनियादी क्षमताओं की ज़रूरत होती है वे तो किसी भी बच्चे की उसकी अपनी भाषा में आसानी से विकसित हो सकती हैं। उसके लिए अंग्रेज़ी आना लाज़मी शर्त नहीं है। समझ अंग्रेज़ी की मोहताज़ नहीं होती, परन्तु अंग्रेज़ी में व्यापक प्रकार का साहित्य व अन्य सामग्री उपलब्ध है, इससे यह भाषा अन्य भाषाओं से बाज़ी मार लेती है। सीखनेवाले की

समझ की व्यापकता व विस्तार पर इस बात का अहम असर पड़ता है कि उस भाषा में ज्ञान की मात्रा कितनी है और उसका स्वरूप कितना सुलभ है।

सामाजिक न्याय के लिए, सोचने–विचारने के लिए आवश्यक क्षमताओं और ज्ञानाधार के विस्तार की ज़रूरत होगी। ये दोनों चीज़ें बच्चे की अपनी भाषा में ही शुरुआत में आसानी से विकसित हो सकती हैं। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए तो अंग्रेज़ी की ज़रूरत होगी किन्तु शुरू से ही बच्चों पर एक अतिरिक्त भाषा एक और अनजान संस्कृति व विचार दृश्य का बोझ डालने की ज़रूरत नहीं है। शुरुआत में उसे अपनी भाषा जो उसकी संस्कृति व अस्तित्व का आधार है में ही उन क्षमताओं के विकास के मौक़े मिलें जो इस सबको कर पाने के लिए ज़रूरी हैं। एक बार जब वे अपनी भाषा में यह सब कर पाने में सहज हो जाएं तब उन्हें अंग्रेज़ी भाषा सिखाने की शुरुआत की जा सकती है।

अंग्रेज़ी भाषा सीखने या नहीं सीखने का सवाल सत्ता के मसले से भी जुड़ता है। 18 वीं शताब्दी तक हिन्दुस्तान में राजकाज की भाषा मूलतः फारसी थी। उसके बाद 19 वीं व 20 वीं शताब्दियों में शासन की भाषा मूलतः अंग्रेज़ी व फारसी ही रही क्यों? इस दौरान व इससे पहले भी आम जन की भाषा सत्ता की भाषा से अलग ही थी।

इसके दो कारण तो बड़े साफ़ दिखाई देते हैं। पहला, कोई भी सत्ता नहीं चाहती कि जनता उस पर सवाल उठाए और उसकी मंशाओं को समझे। इसलिए वे हमेशा अपनी भाषा को आम जन की भाषा से अलग ही रखना बेहतर समझते हैं। कम से कम उन मसलों पर जिनमें वे नहीं चाहते कि सारी जनता भागीदारी करे। दूसरा, भाषा एक सांस्कृतिक चीज़ है और वह अपनी संस्कृति से गहराई से जुड़ी होती है। जब हम कोई भाषा सीखते हैं तो उसके साथ–साथ उसकी संस्कृति भी आती है। और हर सत्ता यह चाहती है कि आम लोगों की संस्कृति दबी रहे व अभिजात्य संस्कृति का प्रसार हो। इसलिए भी सत्ताएं ऐसी भाषा को काम में लेती हैं और उसका प्रसार करती हैं जो सामान्य जन की भाषा से अलग हैं। इससे एक तरफ़ तो उनका यह मक़सद हल होता है कि वे जनता से ख़ास तरह की दूरी बनाए रख सकें तथा दूसरी तरफ़ जनता के एक हिस्से में अपनी भाषा का प्रसार करके उसे सांस्कृतिक रूप से अपने क़रीब लाया जा सके, उसके सोचने–समझने के तरीक़ों को अपने (सत्ता के) जैसा बनाया जा सके। जो लोग सत्ता के क़रीब आते हैं उनमें ज़ाहिर है ज़्यादा लोगों के जीवन को प्रभावित करने की संभावना बन जाती है। यह एक कारण है कि अंग्रेज़ी जाननेवालों को इस वर्चस्व के कारण समाज में दबदबे एवं रुतबे का दर्जा भी मिल जाता है। लोग इस रुतबा दिखाने, दूसरों पर रौब झाड़ने, ख़ुद को श्रेष्ठ व दूसरों को हीन साबित करने के लिए काम में लेते हैं।

अब मुद्दा बचता है कि क्या बच्चे इसे सीख सकते हैं? इस सवाल का जवाब बड़ा ही सरल और साफ है। हां, हर बच्चा किसी भी भाषा को सीख सकता है। यह क्षमता उसमें जन्मजात होती है। हम रोज़ देखते हैं कि बच्चे चार–पांच वर्ष की उम्र तक आते–आते अपने परिवार व आस–पास की भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। हर बच्चा अपने आस–पास उपयोग होनेवाली दो तीन भाषाएं या अधिक जानता है। यदि किसी बच्चे को उसके समुदाय से दूर किसी भी समुदाय में छोड़ दिया जाए तो वह समुदाय में रहकर उस भाषा को भी बड़ी आसानी से सीख लेगा। बच्चे कहीं भी किसी भी भाषा को सीख सकते हैं, बस ज़रूरत होगी एक परिस्थितिजनित रुचि व आवश्यकता की व भाषा समृद्ध माहौल उपलब्ध कराने की।

एक से अधिक भाषाएं सीखना भाषायी क्षमताओं की समृद्धि में मददगार ही होता है न कि बाधक। हर नई भाषा हमारे सामने विचारों व संवाद का एक नया संसार खोलती है। वह दूसरी भाषा कौन सी हो? क्या वह कोई भारतीय भाषा हो जैसे – तमिल, संस्कृत, उर्दू, मराठी? या फिर कोई विदेशी भाषा। यह एक कठिन सवाल है, निश्चित तौर से वह कोई भी भाषा हो सकती है, पर अब तक की बातचीत में हमने जिन पहलुओं को देखा है उसके आधार पर (ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र में घुसपैठ तथा सम्प्रेषण के क्षेत्र में विस्तार) देखें तो अंग्रेज़ी ज़्यादा उपयोगी साबित होती नज़र आती है।

दिलीप सिंह – दिगतंर जयपुर में कार्यरत हैं।

बांणे तावड़ा में जाईने ऊबो वेई जा नी

नीता मिश्रा

बात उस समय की है जब मुझे उदयपुर में आए एक वर्ष ही हुआ था और मेवाड़ी बिलकुल नहीं आती थी।

हल्की सर्दियों के दिन थे। मेरी कक्षा का एक बच्चा पानी पीने गया और थोड़ा सा गीला हो गया और कक्षा में आकर बैठ गया। सर्दी से बच्चा बीमार न हो जाए इसलिए मैंने बच्चे से कहा कि ''धूप में जाकर खड़े हो जाओ'' क्योंकि उस समय दूसरे कपड़े भी नहीं थे और गीले कपड़ों में बीमार होने का डर था। लेकिन वो बच्चा अपनी जगह से हिला भी नहीं। मैंने दो–तीन बार बच्चे से धूप में जाने के लिए कहा पर उसने मेरी बात पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। मैं उसके पास गई और उससे धूप में खड़े होने के लिए बोल ही रही थी कि इतने में किसी काम से स्कूल की एक कर्मचारी मेरे पास आई। उसने मुझसे पूछा मैडम क्या बात है। मैंने उसे बच्चे के बारे में बताया कि मेरे बोलने पर भी वह धूप में खड़ा नहीं हो रहा है। उसने केवल एक बार कहा ''बांणे तावड़ा में ऊबो वेई जा नी'' और बच्चा चुपचाप धूप में चला गया।

इस घटना के बाद मुझे लगा जब बच्चा मेरी छोटी सी बात नहीं समझ पाया तो स्कूल में पढ़ाए जानेवाले विषय कैसे समझ पाता होगा? हम उनकी समस्या को समझ ही नहीं पाते। इसके बाद मैंने अपने कक्षा के बच्चों और अपने साथियों से मेवाड़ी सीखना शुरू किया।

यह घटना 3–4 वर्ष पहले की है। कक्षा प्रथम जूनियर में एक बच्चे ने प्रवेश लिया। उसका परिवार उड़ीसा के एक गांव से था। उस बच्चे को केवल उड़िया भाषा आती थी। हिन्दी उसे बिलकुल ही नहीं आती थी। हमारी कोई भी बात उसे समझ में नहीं आती थी। खाना खाना हो या सोना हो जब उसे इशारों से समझाते तो समझ जाता। अपने आस–पास बच्चों व अध्यापिकाओं की भाषा समझ में न आने पर वह कभी दोनों हाथ ऊपर बांधकर अंगड़ाई लेता। एक अलग तरह से हमें देखता। अपने बस्ते और अपनी किताबों आदि से खेलता रहता।

पहले हमें लगा शायद उसके सुनने में कोई समस्या है। कभी लगता कि बच्चा मानसिक रूप से कमज़ोर तो नहीं। हम सभी शिक्षिकाओं ने उसके बारे में बातचीत की। हमें लगा उसके अभिभावकों से बात करनी चाहिए। हमने उसकी मां को स्कूल में बुलाया और उससे बात की। बात करते ही उसकी समस्या का पता लग गया क्योंकि मां भी टूटी–फूटी हिन्दी में बात कर पा रही थी।

इस घटना के बाद हमने कक्षा के बच्चों से उसकी दोस्ती करवाई (उससे पहले तक वह अकेला ही रहा करता था)। अब हम उससे अधिक से अधिक बातें करते। और थोड़े दिन में पता चल गया कि जिस बच्चे को हम समस्याग्रस्त मान रहे थे वह तो प्रतिभाशाली बच्चा निकला। उसके पास भाषा सीखने की एक किताब हमेशा रहती थी जिसमें उड़िया को हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों भाषा में अनुवाद किया गया था।

अब उसकी तीनों भाषा पर पकड़ समान रूप से चल रही है। यदि हम बच्चे की समस्या पर ध्यान नहीं देते तो शायद उस बच्चे के साथ बहुत बड़ा अन्याय कर देते।

नीता मिश्रा – विद्या भवन नर्सरी स्कूल में इंचार्ज हैं।

बच्चे और भाषा

विद्या भवन नर्सरी स्कूल, उदयपुर में मातृभाषा में शिक्षा दी जाती है। स्कूल आना सीख रहे बच्चों को उनकी अपने घर की भाषा में अभिव्यक्ति के पूरे अवसर दिए जाते हैं। बच्चे अपनी ही भाषा में बोलते हैं, लिखते हैं। यहां प्रस्तुत है अपनी भाषा में बच्चों के द्वारा व्यक्त विचार–

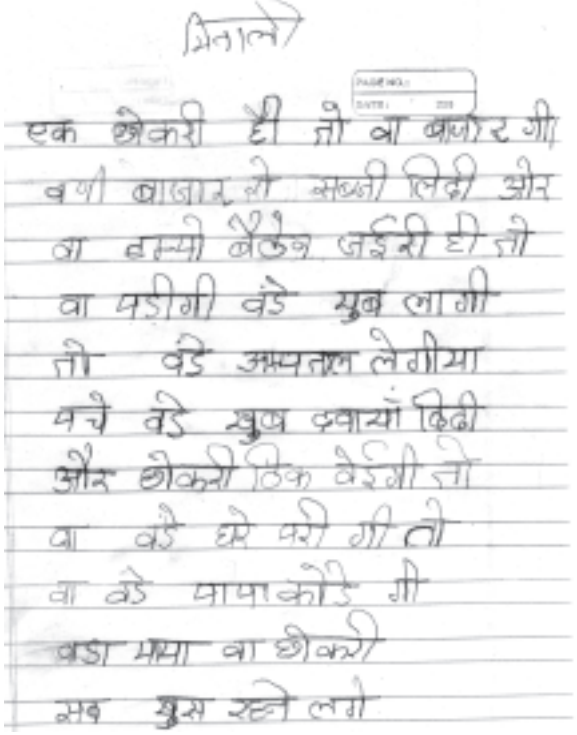

प्रिंसा ले

एक छोकरी दी तो वा बोर गी
वणी बाजार तो सब्जी लिदी और
वा हम्यो बैलेन जईरी दी तो
वा पडीगी वंडे मुंब लागी
तो वंडे अम्पतल लेगीया
पचे वंडे खुब दवायां दिदी
और छोकरो ठिक वेइगी तो
वा वंडे घरे परी गी तो
वा वंडे पापा कोडे गी
बडा मामा वा छोकरो
सब खुस रहने लगे

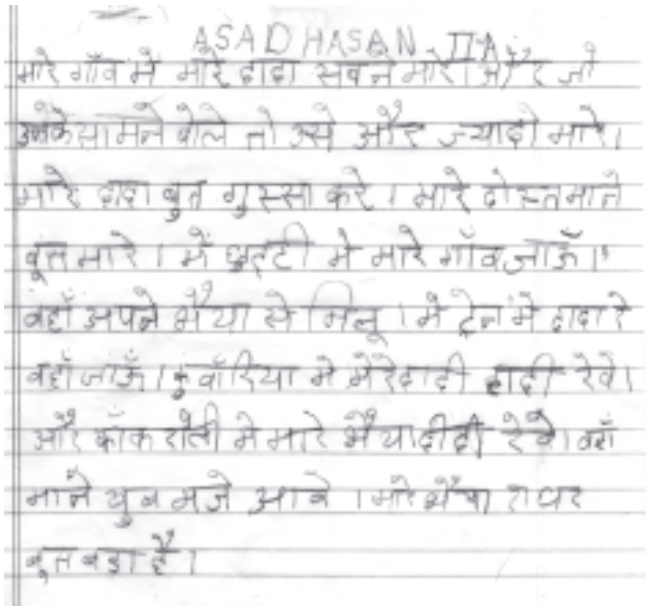

ASAD HASAN - IIA

मारे गाँव में मारे दादा सबने मारो मोर्‌ड जो
उनके सामने बोले तो उसे और ज्यादो मारे।
मारे दादा बुत गुस्सा करे। मारे दोस्त माने
बुत मारे। मैं छुट्टी में मारे गाँव जाऊँ।
वहाँ अपने भैया से मिलू। मैं ट्रेन में दादा रे
वहाँ जाऊँ। कुंवरिया में मेरे दादी दादी रेवे।
और कांकरोली में मारे भैया दीदी रेवे। वहाँ
माने बुत मजे आवे। मोरे भैया का घर
बुत बड़ा है।

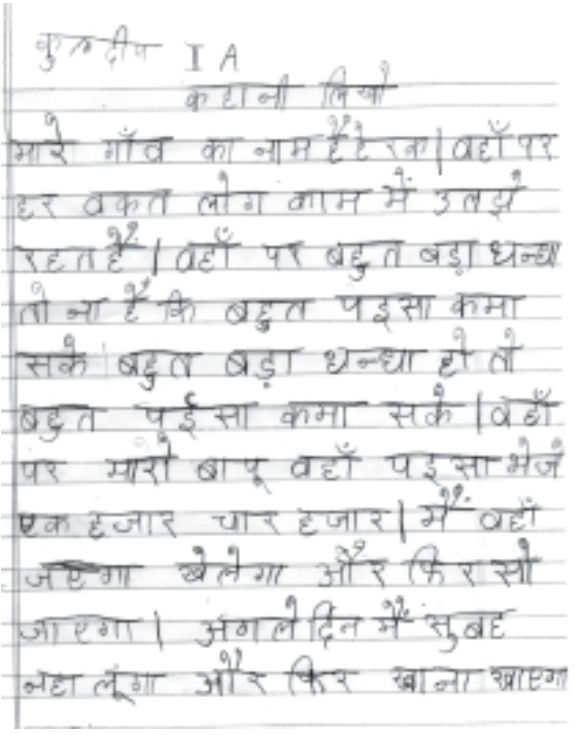

युक्तीप IA
कहानी लिखो

मारे गाँव का नाम है देरना। वहाँ पर
हर वकत लोग काम में उलझे
रहते हैं। वहाँ पर बहुत बड़ा धन्धा
तो ना है कि बहुत पइसा कमा
सके बहुत बड़ा धन्धा हो तो
बहुत पइसा कमा सके। वहाँ
पर मारो बापू वहाँ पइसा भेजे
एक हजार चार हजार। मैं वहाँ
जइगा खेलेगा और फिर सो
जाएगा। अगले दिन मैं सुबह
नहा लूंगा और फिर खाना खाएगा

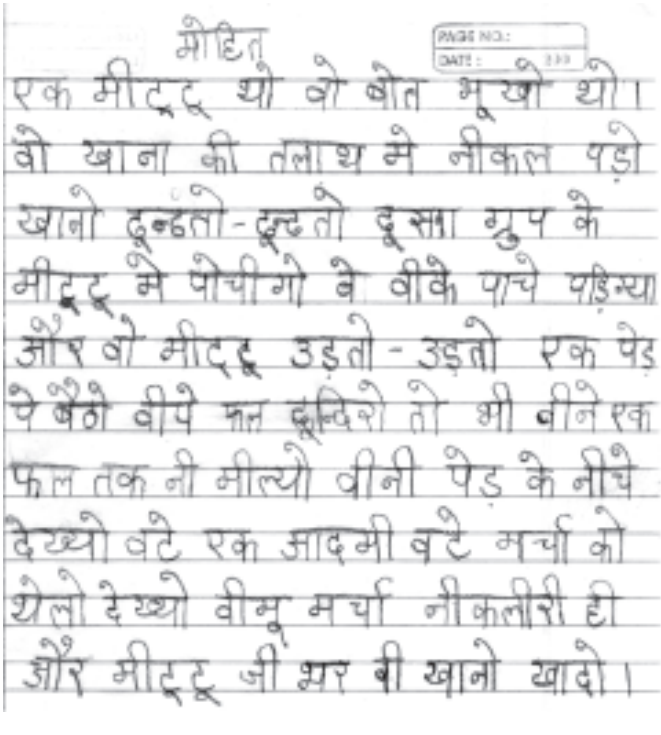

मोहित

एक मीदड़ थो वो बोत भूखो थो।
वो खाना की तलाश मे नीकल पड़ो
खानो ढून्ढतो-ढून्ढतो दूसा ग्रुप के
मीदड़ मे पोचीगो वे वीके पाचे पड़िया
और वो मीदड़ उड़तो-उड़तो एक पेड़
पे बैठो वीपे मत ढून्दिरो तो भी बीने एक
फल तक नी मील्यो वीनी पेड़ के नीचे
देख्यो वटे एक आदमी बटे मर्चा को
थेलो देख्यो वीमू मर्चा नीकलीरी दी
और मीदड़ जी मर बी खानो खादो।

लोकतंत्र की स्थापना तभी होगी जब मातृभाषा को तवज्जोह मिलेगी

ए.के. पालीवाल

भाषा की अहम भूमिका को समझे बिना शिक्षा की कोई भी चर्चा अधूरी या निरर्थक ही मानी जाएगी। शिक्षा चाहे अनौपचारिक हो या औपचारिक इससे कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता। विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा के संदर्भ में तो इस बात में कोई दो राय नहीं होनी चाहिए। अनेक शिक्षाविदों, भाषाविदों तथा शिक्षाशास्त्रियों ने इस बात को रेखांकित किया है कि बालक का उसकी मातृभाषा से गहरा, अटूट एवं संवेगात्मक रिश्ता होता है। पर अहम सवाल यह खड़ा होता है कि क्या हम ज़मीनी स्तर पर इस पवित्र विचार को एक वास्तविकता में बदल पाए हैं?

जब तक बालक के संपूर्ण संदर्भ को ठीक से समझ नहीं लेंगे तब तक हम कुछ ज़्यादा सार्थक कार्य शिक्षा में नहीं कर पाएंगे। इस बात को पुनः दोहराने में कोई हानि नहीं है कि बालक एक व्यापक संदर्भ में रहकर विकसित होता है। इस प्रक्रिया में बालक का परिवार के सदस्यों, रिश्तेदारों, समाज के सदस्यों से अटूट रिश्ता बनता चला जाता है? ये रिश्ता कैसे बनता है? इस रिश्ते का सेतु कौन बनता है? निःसन्देह भाषा (मातृभाषा) ही उसे रिश्तों के संसार से जोड़ती है। बालक न केवल अपनी संवेदनाएं, भावनाएं, आकाक्षाएं, सपने, कच्ची–पक्की समझ एवं खट्टी–मीठी हक़ीक़त भाषा में व्यक्त करता है बल्कि वह बाहरी सामाजिक संसार के असंख्य 'तथ्य', 'विचार', सीखता भी है। इस लेन–देन की प्रक्रिया में बालक परिवार और समाज के संबंध को व्यापक संदर्भों में समझना शुरू करता है। इससे उसका संज्ञानात्मक, संवेगात्मक एवं मनोक्रियात्मक विकास गतिमान हो जाता है। विद्यालय उसे औपचारिक रूप से शिक्षित करने के सभी नाटकीय असफल प्रयास करते रहते हैं। विद्यालय के आंतरिक अभिकरण एवं मानवीय संसाधन इस बात को स्वीकार करने में प्रायः हिचक महसूस करते हैं कि बालक में पूर्वज्ञान का अथाह सागर है। यह बालक समाज विज्ञान, विज्ञान, गणित, गृहविज्ञान, अर्थशास्त्र, स्वास्थ्यविज्ञान, राजनीति, भूगोल और इतिहास, अर्थशास्त्र, सभी को काफ़ी हद तक जानता ही नहीं बल्कि सार्थक रूप से प्रयोग में भी लेता है। विद्यालय इस बालक को औपचारिक शब्दावली देकर अपने अहम को व्यापक बनाते हैं तो यह कहना कि विद्यालय के बिना बालक की शिक्षा संभव नहीं है, एक पाषाणकालीन अतार्किक, लचर दलील से ज़्यादा कुछ नहीं है।

यह सच है कि भाषा बालक की समझ को विस्तार देती है। लेकिन हमें यहां सोचना होगा कि क्या भाषा के बिना समझ का विकास नहीं होगा? क्या भाषा समझ के लिए एक अनिवार्य शर्त है? क्या शारीरिक रूप से अक्षम एवं चुनौतिपूर्ण जीवन जीनेवाले बालक या व्यक्ति सिर्फ़ भाषा के ज़रिए ही संसार को समझते हैं? इसलिए ज़रूरी है कि हम भाषा और विशेषकर मातृभाषा के प्रश्न को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने–समझने की कोशिश करें।

पहला सवाल ही यह है कि हम मातृभाषा किसे कहते हैं? हमारे जैसे बहुभाषी देश में बालक की मातृभाषा क्या नए अर्थ ग्रहण करती है? अगर हम भाषाविज्ञान के इस पचड़े एवं झगड़े में नहीं पड़ें कि भाषा और बोली में अंतर होता है या नहीं, तो भी कम से कम हमें ये तो सोचना ही होगा कि विद्यालय की चारदीवारी के भीतर बोली जानेवाली शिक्षक–भाषा, पुस्तक–भाषा बालक की 'समझ की भाषा' से कितना रिश्ता रखती है? क्या ग्रामीण एवं आदिवासी इलाकों में पढ़नेवाले बालक शहरों में शिक्षित एवं प्रशिक्षित अध्यापकों को तथा उनकी भाषा को समझ पाते है? क्या ये बालक कभी इन 'विदेशी' शिक्षकों से कोई सार्थक संवाद कर पाते है? यदि ऐसा नहीं है तो हमें बालक की औपचारिक शिक्षा के रसायन, गणित एवं समाजशास्त्र को ठीक से समझना होगा।

क्या यह ज़रूरी नहीं कि हम इस बात पर विचार करें कि (1) बालक घर में कौन सी भाषा बोलता है? (2) उसे विद्यालय में 'गृहभाषा' का प्रयोग क्यों नहीं करने दिया जाता? उसे इसके लिए क्यों टोका, रोका एवं अपमानित किया जाता है? हम बालक की समझ को विकसित करना चाहते हैं या उसे नष्ट करना चाहते हैं? यदि बालक अपनी मातृभाषा के सहयोग से सृजित ज्ञान को विस्तार देना चाहता है तो इससे किसी को क्या कष्ट होना चाहिए?

लेकिन हमें कष्ट है क्योंकि हम चाहते हैं कि बालक हमारी भाषा बोले, हमारी तरह बोले और स्तरीय, निम्न–स्तरीय एवं अस्तरीय भाषा में भेद करे। जब तक सामाजिक एवं आर्थिक विषमताएं और सांस्कृतिक औपनिवेशिक मानसिकता व्याप्त रहेगी तब तक बालक और उसकी मातृभाषा के साथ ऐसे भेदभाव होते रहेंगे, ऐसी असमानता बनी रहेगी। इसलिए भाषा का प्रश्न सिर्फ़ 'शिक्षा के माध्यम' का प्रश्न ही नहीं है। यह शुद्ध रूप से एक राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं औपनिवेशिक मानसिकता का प्रश्न भी है।

औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था में बालक, पाठ्यक्रम, विद्यालय, मूल्यांकन, शिक्षण विधि के साथ में शिक्षक–शिक्षा का मुद्दा भी जुड़ा है। इसमें भी कई विसंगतियां हैं जो मूलतः 'मातृभाषा' के प्रश्न को ज़्यादा नुकीला बनाती हैं। इसे ठीक से समझने के लिए हमें निम्नांकित बिन्दुओं पर विचार करना होगा–

(1) अध्यापक–शिक्षा का वर्तमान मॉडल क्या है? (2) क्या यह प्रचलित मॉडल हमारी शिक्षा के तथा भाषा शिक्षण के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक है?

हमारा व्यक्तिगत अनुभव इस बात का गवाह है कि हमने शिक्षक–शिक्षा को अनावश्यक रूप से मशीनीकृत, निर्जीव एवं निरर्थक बना दिया है। शिक्षा के सिद्धांतों का विद्यालय की वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं है। महज़ खानापूर्ति के ज़रिए प्रशिक्षण की रस्म अदा की जाती है। यह अलग बात है कि कुछ इक्के–दुक्के शिक्षा संस्थान इस कार्य को ठीक प्रकार से कर रहे हैं लेकिन क्या यह प्रतिशत आटे में नमक के बराबर नहीं है? मातृभाषा को शिक्षा के संदर्भ में ही देखिए। प्रवेश परीक्षा पास करके आए बीएड या एसटीसी विद्यार्थी स्वयं अपनी मातृभाषा में कितना कुशल एवं ज्ञानवान है उसका स्वयं का दृष्टिकोण मातृभाषा के प्रति कैसा है? अंग्रेज़ी के मोह या भय से प्रेरित उनकी मानसिकता उनके शिक्षण को प्रभावित करती है। जो बीएड विद्यार्थी स्वयं शुद्ध बोल एवं लिखकर अभिव्यक्ति नहीं कर सकते उनसे यह उम्मीद करना ग़लत होगा कि वे अपने स्वयं के विद्यार्थियों में भाषा के मूल कौशल विकसित कर पाएंगे।

भाषा के विद्यार्थी स्वयं इस बात से परेशान एवं दुखी हैं कि समाज का भाषा के प्रति दृष्टिकोण तेज़ी से बदल रहा है और यह दृष्टिकोण उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से नहीं मिलता। दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि स्कूल के विद्यार्थियों को पढ़ानेवाले बीएड या एसटीसी विद्यार्थी के अलावा अन्य विषय के अध्यापक यह मानते हैं कि बालक की भाषा में सुधार करना उनकी ज़िम्मेदारी नहीं है। भाषा के शिक्षक के साथ अन्य विषय के शिक्षकों के ऐसे कुतर्क ही शिक्षा को विखंडित करते हैं। इस विखंडन में बालक की भाषा ही शिकार होती है। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमें विषयों के आपसी रिश्तों में आकर्षण, मज़बूती, सहजता एवं व्यापक समग्रता लानी होगी। विषयों में आपसी छूआछूत, ऊंच–नीच एवं रंग, आकार की भेदपूर्ण नीति से छुटकारा पाना होगा। औपनिवेशिक मानसिकता ही भाषा के लिए सबसे बड़ी बाधा है।

इसी क्रम में हमें विद्यालय तथा शिक्षा के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों के मध्य सार्थक 'संवाद' निर्मित करने होंगे। लोकतंत्र में संवाद ही प्राणवायु है। यदि विद्यालय में 'संवाद' नहीं है तो यह मान लेने में कोई त्रुटि नहीं होगी कि वहां लोकतंत्र नहीं है। विद्यार्थी यदि स्वतंत्र नहीं है तो बोलेगा नहीं। यदि बोलेगा नहीं तो अभिव्यक्ति क्या करेगा। यदि मातृभाषा के प्रति ऐसे दुराग्रह होंगे तो लोकतंत्र कहां रहेगा? इसलिए 'मातृभाषा एवं शिक्षक शिक्षा' का मुद्दा वस्तुतः लोकतंत्र की रक्षा एवं व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं है बल्कि यह लोकतंत्र, शिक्षा एवं विकास का भी प्रश्न है। इन मुद्दों पर व्यापक चर्चा एवं संवाद की ज़रूरत है। क्या हम स्वयं इस संवाद के लिए तैयार हैं?

ए. के. पालीवाल – विद्या भवन शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में अंग्रेज़ी पढ़ाते हैं।

... नहीं तो ज्ञान से वंचित रहेंगे

आर. एल. श्रीमाल

महाविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम आम तौर पर या तो प्रदेश की भाषा (जैसे कि मध्यप्रदेश में हिंदी और गुजरात में गुजराती) या अंग्रेज़ी माध्यम में होता है। जैसे–जैसे उच्च अध्ययन की ओर जाते हैं तो भाषा का माध्यम अंग्रेज़ी की ओर रुझान लिए होता है। मगर मेरा यह मानना है कि महाविद्यालयीन शिक्षा में भी मातृभाषा की भूमिका अहम होती है।

चूंकि मैं वनस्पति विज्ञान पढ़ाता रहा हूं अतः इसी संदर्भ में अपनी चर्चा को केंद्रित करूंगा। महाविद्यालयीन स्तर पर शिक्षा में हमारी पूरी मानसिकता किताबों में गढ़े रहने की ही होती है। मोटी–मोटी किताबों में से पढ़ लें और परीक्षा दे दें। वैसे ऐसी किताबें जो कि गाइड के रूप में छपी मिल सकती हैं जिनको पढ़कर आसानी से उत्तीर्ण हुआ जा सकता है। मगर सही अर्थों में यदि कुछ समझ पैदा करनी है तो उन विषयों को लेकर समाज के साथ अंतःक्रिया करनी चाहिए।

वनस्पति विज्ञान भी ऐसा ही एक विषय है। इसमें किताबों की भूमिका को नकारा तो नहीं जा सकता मगर यदि वनस्पतियों के बारे में कुछ समझ पैदा करनी हो तो फिर प्राकृतिक परिवेश में तो जाना ही होगा। वहां निवास करनेवाले समाज के लोगों से आपको चर्चाएं करनी होंगी। यह तो सर्वविदित ही है कि जो लोग खेती–किसानी से जुड़े हैं या कुदरत के नज़दीक रहते हैं उनके पास ज्ञान का ख़ज़ाना होता है। वे पेड़–पौधों, जंतुओं आदि के बारे में काफ़ी कुछ जानते हैं। उनको तकनीकी शब्दों का ज्ञान नहीं होता। उनका ज्ञान किताबी नहीं होता मगर व्यावहारिक होता है जो ज़िंदगी से जुड़ता है।

वनस्पति विज्ञान का अध्ययन तो तभी माना जाएगा जब प्रकृति में जाकर सही अर्थों में पौधों का अध्ययन कर सकें। यदि किसी पौधे के बारे में जानना–समझना हो तो उसके नज़दीक जाना होगा। समाज के उन लोगों से बात करनी होगी जो सदियों से उनके बीच रहते आए हैं। इस लिहाज़ से यदि हमें उन पौधों के बारे में जानना हो तो उन लोगों की भाषा में बात करनी होगी जो वे बोलते हैं। यदि आप अंग्रेज़ी में बात करेंगे तो ज़ाहिर है कि वे इस मामले में आपकी कोई मदद नहीं कर सकेंगे।

जैसा कि मैंने कई बार यह महसूस किया है कि वनस्पतिविज्ञानी तो वह माली होता है जो दिन–रात पौधों की देखरेख में लगा रहता है। मैंने अपने विद्यार्थी जीवन में भी देखा कि हमारे महाविद्यालय का माली बगीचे के पौधों की उन तमाम बारीक़ियों को बखूबी समझता था जो मोटी–मोटी किताबों में नहीं मिलती थी। जैसे कि जब हमें वनस्पति विज्ञान में विशेष पौधों के सैंपल इकट्ठे करने होते थे तो हमारा माली या हमारी गांव के लोग काफ़ी मदद करते थे। उनके साथ तो हमें उनकी मातृभाषा में ही बात करनी होती थी। वे तो उन भारी–भरकम वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों से पूरी तरह अनभिज्ञ ही रहते हैं। इसलिए व्यावहारिक समझ पैदा करने में माली, किसान और जंगल में रहनेवाले लोगों की भाषा में बात करने से ही यह संभव हो पाता है। जो ज्ञान कक्षा में मिलता है उसे और विस्तृत समझने के लिए प्रकृति में जाकर वहां के लोगों की मदद से आसानी से समझा जा सकता है।

इथेनोबाटनी वनस्पति विज्ञान की एक ऐसी शाखा है जिसमें समाज के विभिन्न तबकों में पारंपरिक रूप से पौधों के वर्गीकरण और उपयोग को लेकर अध्ययन करना होता है। इस शाखा में, समाज की, वनस्पतियों पर किस प्रकार की निर्भरता है इन सब मसलों का अध्ययन करना होता है। जब तक हम उन लोगों की भाषाओं या बोलियों में बात करने की मानसिकता पैदा नहीं करेंगे तब तक वास्तविक ज्ञान से वंचित ही रहेंगे।

आर. एल. श्रीमाल – विद्या भवन रूरल इंस्टीट्यूट के निदेशक रहे हैं।

मातृभाषा में शिक्षण के निहितार्थ

भाग चन्द्र कुमावत

महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा (नई तालीम) की योजना में बच्चों को मातृभाषा में शिक्षा देने पर बल दिया है। मातृभाषा में शिक्षा एक मूल सिद्धान्त था। गांधी ने मातृभाषा में ही शिक्षण पर क्यों ज़ोर दिया? इस सिद्धान्त के पीछे क्या निहितार्थ हैं? अगर हम नई तालीम के इस सिद्धान्त की गहराई से पड़ताल करें तो हमारे समाने स्कूली शिक्षा में मातृभाषा और समझ की कई परतें खुल कर सामने आएंगी। जैसा कि हाल ही के वर्षों में शिक्षा जगत के संसार में अलग–अलग क्षेत्रों में और परिस्थितियों में शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से स्कूली शिक्षा और शिक्षण के संदर्भ में कई शोध अध्ययन हुए हैं। इन शोध अध्ययनों के निष्कर्षों में भी बच्चों को उनकी मातृभाषा में पढ़ाने के महत्त्व को रेखांकित किया गया है। आगे हम स्कूली शिक्षा में विशेषतौर से प्रारम्भिक शिक्षा स्तर पर मातृभाषा में सीखने–सिखाने की अवधारणा के निहितार्थ को समझने और उसे प्रस्तुत करने की कोशिश करेंगे।

प्रथम पहलू है, जिस परिवार, कबिले, समाज, या समुदाय में जब बच्चा या बच्ची जन्म ले कर पलकर बड़े होते हैं तो वह उस परिवार या समुदाय की भाषा या मातृभाषा मां के दूध के साथ सीख लेते हैं और उसी भाषा में अपने परिवार व समुदाय के साथ संवाद करते है। 4 वर्ष की उम्र तक आते–आते उनके पास संज्ञानात्मक दृष्टि से उस भाषा के लगभग 5000 शब्दों का भण्डार हो जाता है जिनका मौखिक अभिव्यक्ति में प्रयोग करती है। भाषा–व्याकरण के कई नियमों को वह जाने–अनजाने में पकड़ लेती है और उनका सहजता के साथ दैनिक जीवन में उपयोग करती है। उसी भाषा के माध्यम से वह अपने ज्ञान का निर्माण करती है। लेकिन चार साल की उम्र के बाद जब वह शिक्षा प्राप्त करने के लिए किसी स्कूल में प्रवेश लेती है तेा स्कूल में शिक्षक के द्वारा उसे हिन्दी या प्रान्तीय भाषा का अक्षर ज्ञान कराया जाता है। उसी भाषा में उसे पढ़ने के लिए मज़बूर किया जाता है। अमूमन शिक्षकों के द्वारा कक्षा में बच्चे की मातृभाषा के अस्तित्व को नकार दिया जाता है। स्कूल के द्वारा बच्चे की मातृभाषा और उसमें उसके द्वारा प्राप्त किए गए भाषाई क्षमता और कुशलताओं को नज़रअंदाज कर दिया जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप बच्चा भाषा के मामले में शून्य पर चला जाता है। जो बच्चा या बच्ची भाषा के मामले में स्कूल प्रवेश के समय सहज था वह असहज हो जाता है। शिक्षकों के इस प्रकार के व्यवहार से बच्चे की सीखने और ज्ञान निर्माण की प्राकृतिक क्षमता कुन्द हो जाती है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को गांधी ने भांप लिया था और इसीलिए उन्होंने नई तालीम योजना में मातृभाषा को स्थान दिया था।

दूसरा पहलू है, बच्चे के मस्तिष्क का विकास और उसका ज्ञानात्मक विकास उसकी मातृभाषा के माध्यम से प्रारम्भ होता है। इस मामले में मातृभाषा उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है। बच्चे यहां तक की बड़ों में भी सोचने और विचारों के बनने का काम मातृभाषा में ही होता है। इसे दृष्टि से खासतौर से प्रारम्भिक शिक्षा में मातृभाषा वह माध यम है जिसमें बच्चे अपनापन महसूस करते है उसी भाषा में सोचते हैं और अपने ज्ञान की संरचना करते है। यद्यपि बच्चे में कई भाषा सीखने की क्षमता विद्यमान होती है। लेकिन शुरूआती शिक्षा में मातृभाषा काफी मददगार होती है। गांधी ने इस पहलू को अच्छी तरह समझा था। इसीलिए उन्होंने मातृभाषा किया और था लेकिन हमारी शिक्षा व्यवस्था इस तथ्य को ठुकरा देती है। जिसके कारण बच्चे को कई प्रकार की पीड़ा को भोगना पड़ता है।

भाग चन्द्र कुमावत – विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र पर कार्यरत।

क्या हो शिक्षा का माध्यम?

वि. वि. सिंह

सन् 1931 में विद्या भवन में स्थापित विद्या भवन विद्यालय जाति, धर्म, वर्ग भेदभाव से हटकर सबके लिए समान शिक्षा, एक सा गणवेश, सहशिक्षा पूरे दिन का स्कूल, पढ़ाई के अलावा खेलकूद, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियां, श्रमदान, क्राफ़्ट एवं कला शिक्षण आदि विशिष्टताओं के साथ ही यह एक हिन्दी माध्यम विद्यालय के रूप में शुरू हुआ।

डॉ. मोहन सिंह मेहता का यह मानना था कि अध्ययन–अध्यापन का माध्यम हिन्दी हो किन्तु अंग्रेज़ी का स्तर भी अच्छा हो। विद्यार्थियों का दृष्टिकोण व्यापक हो और अंतर्राष्ट्रीय भावना का विकास हो। इस हेतु समय–समय पर दूसरे देशों से आकर शिक्षकों ने विद्या भवन में अपनी सेवाएं दीं।

एक प्रयोग अस्सी के दशक में किया गया। विज्ञान विषय समिति की बैठक में यह विचार आया कि विद्या भवन चूंकि हिन्दी माध्यम है, अतः विज्ञान के विद्यार्थियों को आगे जाकर बड़ी समस्या आती है। यह तय हो गया कि कक्षा छः से विज्ञान विषय का शिक्षण अंग्रेज़ी में किया जाएगा। विद्या भवन में हमेशा से विज्ञान शिक्षण में करके सीखो या प्रयोग पर बहुत बल रहा है। इसमें विद्यार्थी बहुत रुचि भी लेते थे। माध्यम अंग्रेज़ी कर दिए जाने से शिक्षिक भी नपे–तुले शब्दों में और अधिकांश पुस्तक से अंग्रेज़ी में पढ़कर बताने लगे। बच्चों के लिए भी विषय सामग्री को अंग्रेज़ी में पूरी तरह समझना और विशेषकर प्रयोग आदि को अंग्रेज़ी में लिखना मुश्किल हो गया। परिणामतः विषय में उनकी रुचि कम होने लगी। ऐसा अनुभव किए जाने पर यह नवाचार जल्दी ही समाप्त कर दिया गया।

यह भी एक अनुभूत सत्य है कि बारहवीं तक हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर मेडिकल और इंजीनियरिंग में प्रवेश लेनेवाले विद्यार्थियों को, चूंकि व्यावसायिक शिक्षा का माध्यम हमारे देश में आज भी अंग्रेज़ी ही है, दिक्क़त का सामना करना पड़ता। यद्यपि शैक्षिक दृष्टि से उत्तम उपलब्धिवाले विद्यार्थी ही इन क्षेत्रों में चयनित होते हैं, फिर भी उन्हें माध्यम संबंधी समस्या से उबरने में एक वर्ष तो लग ही जाता, अतिरिक्त श्रम कर ही वे अपने स्तर को बनाए रखने में सफल हो पाते।

विद्यार्थियों को आगे जाकर ज़्यादा दिक़्क़त न हो इसके लिए यह उपाय सोचा गया कि रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, जीवविज्ञान एवं गणित विषयों में सीनियर कक्षाओं में विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी शब्दावली से भी परिचित करवाया जाए। इससे विद्यार्थियों को निश्चित रूप से कुछ मदद मिली होगी।

विद्या भवन में अध्ययन हेतु विभिन्न प्रांतों के विद्यार्थी प्रवेश लेकर छात्रावासों में रहते थे। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात से बड़ी संख्या में विद्यार्थी यहां अध्ययन हेतु आते थे। इस प्रकार बच्चों को दूसरी भाषाएं सुनने, समझने के अवसर मिलते। इसी प्रकार शिक्षक भी दूर–दराज़ से आकर यहां कार्यरत रहे हैं। इससे एक–दूसरे की भाषा को सम्मान देने, सीखने के अवसर भी सहज उपलब्ध होते रहे हैं।

एक व्यक्तिगत उदाहरण देकर मैं इस बात को अधिक स्पष्ट करना चाहूंगी। लखनऊ से होने के कारण मेरी मातृभाषा हिन्दी है, घर पर हिन्दी ही बोली जाती है। किन्तु मेरे बच्चे विद्या भवन में पढ़ने और शिक्षक कॉलोनी में निवास के कारण बहुत अच्छी तरह मेवाड़ी समझते और बोलते हैं। मैं स्वयं प्रयास करने पर भी उतनी धारा प्रवाह से मेवाड़ी नहीं बोल सकती, न ही मेरा उच्चारण उतना अच्छा है। क्योंकि यह बाद में सीखी गई जबकि बच्चों ने अपने साथियों से सुनकर और उस माहौल में उसे स्वाभाविक रूप से ग्रहण किया।

विद्या भवन में दक्षिण भारत, बिहार, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश,

पंजाब, बंगाल, गुजरात आदि से आए हुए शिक्षक मेरे साथ कार्यरत थे। शिक्षक कॉलोनी में मेरे पड़ोस में महाराष्ट्र परिवार निवास करता था और उनके बच्चे मेरे बच्चों के समवयस्क थे। उनके साथ खेल–खेलकर, उनके घर पर मराठी सुन–सुनकर, मेरे बच्चे काफ़ी मराठी समझ लेते और बहुत से मराठी शब्द उनके शब्द भण्डार का हिस्सा हैं। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि बच्चों में भाषाएं सीखने की काफ़ी क्षमता होती है।

विद्या भवन में विदेशी शिक्षकों का आना सदैव से प्रचलित रहा। स्व. जे.सी.डब्ल्यू.रस्ट एक अंग्रेज़ थे। सन् 1961 में वे विद्या भवन में आए और फिर जीवनपर्यन्त उदयपुर में ही रहे। वे एक अत्यन्त लोकप्रिय शिक्षक थे। वे बच्चों के साथ खेलते, नई–नई बातें बताते, सब अंग्रेज़ी में। बच्चों को उनके साथ इतना मज़ा आता और वे अंग्रेज़ी समझने की कोशिश करते। इस तरह बिना किसी डर के, बिना किसी बोझ के बच्चों को विदेशी भाषा समझने–सीखने का माहौल मिलता।

विद्या भवन की एक विशिष्ट प्रवृत्ति 'वार्षिकोत्सव प्रायोजना' है। इसमें एक विषय का चयन किया जाता है और भिन्न–भिन्न पहलुओं से उस विषय संबन्धित अध्ययन किया जाता है। बच्चों को विभिन्न अध्ययन समूहों में विभाजित किया जाता है। इसके अधिक विस्तार में न जाकर मैं यहां भाषाओं के सीखनेवाली बात पर चर्चा करना चाहूंगी।

वार्षिकोत्सव प्रायोजना के लिए सन् 1976 में गुजरात और 1978 में महाराष्ट्र विषय चुने गए। इस दरमियान हम लोग गुजराती और मराठी लिपियों व थोड़ी बहुत भाषा से भी अवगत हुए। इसी प्रकार 'राष्ट्रीय एकता' वार्षिकोत्सव प्रायोजना के समय अध्ययन समूह विभिन्न राज्यों पर बनाए गए। 'बंगाल श्रेणी' में काम करते हुए मैं बंगला वर्णमाला सीख सकी और अब मैं बंगला लिपि पढ़ सकती हूं। इतने कम समय में भाषा पर तो अधिकार संभव नहीं था। किन्तु एक बुनियाद बन जाने से आगे बढ़ा जा सकता है।

विद्या भवन आरंभ से ही एक प्रायोगिक स्कूल रहा है। अभिभावकों, विशेषकर विद्या भवन के पूर्व छात्रों की अंग्रेज़ी माध्यम में शिक्षा की मांग को देखते हुए सन् 2001 में विद्या भवन पब्लिक स्कूल प्रारंभ किया गया, किंतु प्राथमिक स्तर पर माध्यम अंग्रेज़ी न रखा जाए, इस विचार को ध्यान में रखते हुए विद्या भवन पब्लिक स्कूल कक्षा छठी से प्रारम्भ होता है।

पांचवीं तक हिन्दी माध्यम में पढ़ने से बच्चों के पास दो विकल्प रहते हैं, वे कक्षा छठी में हिन्दी माध्यम में ही अपनी पढ़ाई जारी रखें या अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ने हेतु विद्या भवन पब्लिक स्कूल में प्रवेश ले लें। वहां अंग्रेज़ी माध्यम में उन्हें ज़्यादा दिक़्क़त न आए इस दृष्टि से कक्षा तीसरी, चौथी, पांचवीं में विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान विषयों का दोनों भाषाओं में अध्ययन का प्रावधान है।

प्रसंगवश यहां यह भी बताना चाहूंगी कि उदयपुर आदिवासी बहुल क्षेत्र है। इसके साथ ही विभिन्न वर्गों से आने के कारण विद्या भवन नर्सरी स्कूल में प्रवेशार्थी बच्चे हिन्दी का प्रयोग घरों पर नहीं करते हुए आते है, अंग्रज़ी के आम तौर पर प्रयुक्त किए जानेवाले साधारण शब्द भी उनकी शब्दावली में शामिल नहीं होते किन्तु विद्यालय में उन्हें अपनी भाषा में अपनी बात कहने के लिए कभी निरुत्साहित नहीं किया जाता है। यहां तक की नर्सरी की बाल पत्रिका के लिए उनके द्वारा सुनाई गई कहानी भी उनकी भाषा अथवा बोली में ही छापी जाती है। पर हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी भी शुरू से प्रारम्भ कर दी जाती है, एक विषय के रूप में।

प्रत्येक बच्चे में बहुभाषिक प्रवीणता विकसित करने के लिए भारतीय समाज के बहुभाषिक चरित्र को एक संसाधन के रूप में देखना चाहिए, जिसमें अंग्रेज़ी में प्रवीणता भी शामिल है। यह तभी मुमकिन है जब भाषा का पुख्ता शिक्षाशास्त्र मातृभाषा पर आधारित हो।

अंत में यही कहना चाहूंगी कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होने से बच्चे विषयवस्तु को ज़्यादा अच्छी तरह समझ पाते हैं, उनकी अभिव्यक्ति सशक्त होती है, यह निर्विवाद सत्य है।

वि.वि. सिंह – वर्तमान में विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में कार्यरत। पूर्व में विद्या भवन जूनियर स्कूल में प्रधानाध्यापिका थीं।

एनसीएफ–2005 और भाषा

एनसीईआरटी द्वारा स्कूली शिक्षा को लेकर की गई अनुशंसाओं में मातृभाषा में शिक्षा पर काफ़ी ज़ोर दिया गया है। प्रो. आर.के. अग्निहोत्री की अध्यक्षता में तैयार भाषा के इस पत्र में जहां मातृभाषा को अपनाने को कहा गया है वहीं बच्चों को अन्य भाषाओं को सिखाने और संवाद बनाने की भी पैरवी की गई है। बच्चों को अंग्रेज़ी भी सिखानी चाहिए मगर प्रारंभिक शिक्षा में मातृभाषा को बेदख़ल न किया जाए।

जब हम घर की भाषा(ओं) और मातृभाषा(ओं) की बात करते हैं तो इसके अंतर्गत घर की भाषा, बड़े कुनबे की भाषा आस–पड़ोस की भाषा आदि आ जाती हैं, जो बच्चा स्वाभाविक रूप से अपने घर और समाज के वातावरण से ग्रहण कर लेता है। बच्चों में भाषा की जन्मजात क्षमता होती है। हम रोज़मर्रा के सही–सही बोल लेते हैं, बल्कि उनका उचित प्रयोग भी कर रहे होते हैं। यहां तक कि भिन्न प्रतिभा वाले बच्चे, जो बोल नहीं पाते वे भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उतने ही जटिल वैकल्पिक संकेतों और प्रतीकों का विकास कर लेते हैं। भाषाएं एक प्रकार से स्मृतिकोश का भी काम करती हैं, जिसमें अपने सहवक्ताओं को नकारना या उनको मिटाने के प्रयास उसके व्यक्तित्व में हस्तक्षेप की तरह लगते हैं। प्रभावी समझ और भाषा(ओं) के प्रयोग के माध्यम से बच्चे विचारों, व्यक्तियों और वस्तुओं तथा अपने आसपास के संसार से अपने आपको जोड़ पाते हैं। अगर हम भाषा शिक्षण के लिए स्कूल में कोई कार्यक्रम शुरू करते हैं तो यह

बहुभाषिकता, जो बच्चे की अस्मिता का निर्माण करती है और जो भारत के भाषा–परिदृश्य का विशिष्ट लक्षण है, उसका संसाधन के रूप में उपयोग, कक्षा की कार्यनीति का हिस्सा बनाना तथा उसे लक्ष्य के रूप में रखना रचनात्मक भाषा शिक्षक का कार्य है। यह केवल उपलब्ध संसाधन का बेहतर इस्तेमाल नहीं है बल्कि इससे यह भी सुनिश्चित हो सकता है कि हर बच्चा स्वीकार्य और संरक्षित महसूस करे और भाषिक पृष्ठभूमि के आधार पर किसी को पीछे न छोड़ा जाए।

अनुभव से जानते हैं कि ज़्यादातर बच्चे, स्कूल की शिक्षा की शुरुआत से पहले ही भाषा की जटिलताओं और नियमों को आत्मसात कर पूर्ण भाषिक क्षमता रखते हैं। कई बार जब बच्चे स्कूल आते हैं तो उनमें पहले से ही दो या तीन भाषाओं को समझने और बोलने की क्षमता होती है। वे न केवल उन भाषाओं को से विरासत में मिले संकेतों के साथ अपने जीवन–काल में बनाए संकेत भी शामिल होते हैं। ये वे माध्यम भी हैं जिनसे अधिकतर ज्ञान का निर्माण होता है, इसलिए इनका मनुष्य के विचार और उसकी अस्मिता से गहरा संबंध होता है। वास्तव में, उनका अस्मिता के साथ इतना गहरा संबंध होता है कि बच्चे की मातृभाषा(ओं) महत्त्वपूर्ण है कि बच्चे की सहज भाषायी क्षमता को पहचानें और याद रखें कि भाषाएं सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से बनती हैं और हमारे दैनंदिन व्यवहार से बदलती रहती हैं। शिक्षा में भाषाओं के लिए आदर्श यही है कि उनका इसी संसाधन के आधार पर विकास हो और साक्षरता के विकास के साथ (लिपियों में ब्रेल

भी) अकाद्मिक भाषा के रूप में इसे विकसित करने के लिए समृद्ध भी किया जाए। जिन बच्चों में भाषा संबंधी अक्षमता हो उनके लिए मानक संकेत भाषा अपनाई जाए जिससे उनके सतत और पूर्ण विकास को समर्थन मिलता रहे। विद्यार्थियों की भाषिक क्षमता की पहचान से उनका स्वयं के और अपनी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति विश्वास भी बढ़ेगा।

कई अध्ययनों से पता चला है कि द्विभाषी क्षमता संज्ञानात्मक वृद्धि, सामाजिक सहिष्णुता, विस्तृत चिंतन और बौद्धिक उपलब्धियों के स्तर को बढ़ा देती है। सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर बहुभाषिकता एक ऐसा संसाधन है जिसकी तुलना किसी भी अन्य राष्ट्रीय संसाधन से की जा सकती है।

भाषा शिक्षा

भारत की भाषिक विविधता एक जटिल चुनौती तो पेश करती ही है, लेकिन वह कई प्रकार के अवसर भी देती है। भारत केवल इस मामले में ही अनूठा नहीं है कि यहां अनेक प्रकार की भाषाएं बोली जाती हैं, बल्कि उन भाषाओं में अनेक भाषा–परिवारों का प्रतिनिधित्व भी है। दुनिया के और किसी भी देश में पांच–भाषा परिवारों की भाषाएं नहीं पाई जातीं।

संरचना के स्तर पर वे इतनी भिन्न हैं कि उन्हें विभिन्न भाषा परिवारों में वर्गीकृत किया जा सकता है जिनके नाम हैं– इंडो–आर्यन, द्रविड़, ऑस्ट्रो–एशियाटिक, तिब्बतो–बर्मन और अंडमानी। ये भाषाएं आपस में सतत संपर्क–संवाद भी करती रहती हैं। अनेक भाषिक और सामाजिक–भाषिक विशेषताएं ऐसी हैं जो सभी भाषाओं में समान रूप से पायी जाती हैं। यह इस बात का सबूत है कि भारत में विभिन्न भाषाएं और संस्कृतियां सदियों से एक दूसरे को समृद्ध करती रही हैं। शास्त्रीय भाषाएं, जैसे– लैटिन, अरबी, फारसी, तमिल और संस्कृत विभक्ति प्रधान व्याकरण के मामले में और सौंदर्यबोध की दृष्टि से काफ़ी समृद्ध रही हैं और हमारे जीवन को प्रदीप्त करती रही हैं, क्योंकि अनेक भाषाएं उनसे शब्द लेती रहती हैं। आज, हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि द्विभाषिकता या बहुभाषिकता से निश्चित संज्ञानात्मक लाभ होते हैं। त्रिभाषा–फॉर्मूला भारत की भाषा–स्थिति की चुनौतियों और अवसरों को संबोधित करने का एक प्रयास है। यह एक रणनीति है जिसे कई भाषाएं सीखने के मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए।

इसे कार्यरूप और भावरूप दोनों में ही अपनाने की आवश्यकता है। इसका प्राथमिक उद्देश्य भारत में बहुभाषिकता और राष्ट्रीय सद्भाव का प्रसार है। निम्नलिखित दिशा–निर्देश इन लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं : भाषा शिक्षण बहुभाषिक होना चाहिए, केवल कई भाषाओं के शिक्षण के ही अर्थ में नहीं, बल्कि रणनीति तैयार करने के लिहाज़ से भी ताकि बहुभाषिक कक्षा को एक संसाधन के तौर पर प्रयोग में लाया जाए।

बच्चों की घरेलू भाषा(एं), स्कूल में शिक्षण का माध्यम होनी चाहिए। अगर स्कूल में उच्चतर स्तर पर बच्चों की घरेलू भाषा(ओं) में शिक्षण की व्यवस्था न हो, तो प्राथमिक स्तर की स्कूली शिक्षा अवश्य घरेलू भाषा(ओं) के माध्यम से ही दी जाए। यह आवश्यक है कि हम बच्चे की घरेलू भाषाओं को सम्मान दें। हमारे संविधान की धारा 350–क के मुताबिक, 'प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषाई अल्पसंख्यक–वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा।' बच्चे प्रारंभ से ही बहुभाषिक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। त्रिभाषा फॉर्मूला को उसके मूलभाव के साथ लागू किए जाने की ज़रूरत है, ताकि वह बहुभाषी देश में बहुभाषी संवाद के माहौल को बढ़ावा दे। गैर–हिंदी भाषी राज्यों में, बच्चे हिंदी सीखते हैं। हिंदी प्रदेशों के मामले में, बच्चे वह भाषा सीखें जो उस इलाके में नहीं बोली जाती है। इन भाषाओं के अलावा आधुनिक भारतीय भाषा के रूप में संस्कृत का अध्ययन भी शुरू किया जा सकता है। बाद के स्तरों पर शास्त्रीय और विदेशी भाषाओं से परिचय करवाया जा सकता है।

घरेलू/प्रथम भाषा(एं) या मातृभाषा शिक्षा

यह ज़ाहिर है कि अपनी सहजात भाषिक क्षमता और परिवार तथा

आसपास के लोगों से अंतःक्रिया का अनुभव लेकर जब बच्चे स्कूल आते हैं तो उनमें अपनी भाषा कई मामलों में भाषाओं में संवाद करने की क्षमता पूर्णतः विकसित होती है। वे केवल हजारों शब्दों के साथ स्कूल नहीं आते, बल्कि भाषा की जटिल और समृद्ध संरचनाओं के नियम; जैसे – ध्वनि, शब्द, वाक्य और संवाद के स्तर पर भी उनका पूरा नियंत्रण होता है। एक बच्चा न केवल सही–सही समझना और बोलना जानता है, बल्कि वह अपनी भाषा(ओं) का उचित प्रयोग भी करता है। बच्चे व्यक्ति, स्थान और विषय के अनुसार अपने व्यवहार में परिवर्तन कर सकते हैं। बच्चों के पास स्पष्टतः भाषा की जटिल संरचनाओं को ध्वनि प्रवाह के द्वारा अमूर्त करने की संज्ञानात्मक क्षमताएं होती हैं। कक्षा में क्षमता को उच्च स्तर के संवाद तथा ज्ञान–संवेदना के द्वारा विकसित करना ही प्रथम भाषा के शिक्षण का उद्देश्य होना चाहिए। कक्षा 3 के बाद से मौखिक और लिखित माध्यमों से उच्चस्तरीय संवाद कौशल और आलोचनात्मक चिंतन के विकास के प्रयास हों। प्राथमिक स्तर पर बच्चों की भाषा(ओं) को बिना सुधारे उसी रूप में स्वीकार करना चाहिए जिस रूप में वे होती हैं। कक्षा 4 के बाद अगर समृद्ध और रुचिकर मौके दिए जाएं, तो बच्चे स्वयं भाषा के मानक रूप को ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन इस प्रक्रिया के दौरान बच्चे की घरेलू भाषा के प्रति उचित सम्मान का भाव बना रहना चाहिए। यह स्वीकार करें कि गलतियां, अधिगम का हिस्सा होती हैं और बच्चे जब इस लायक हो जाएँ तो वे स्वयं उसमें सुधार कर लेते हैं। गलतियाँ और कमियों पर ध्यान दिए जाने की बजाय अधिक समय बच्चों को विस्तृत, रुचिकर और चुनौतीपूर्ण निवेश दिए जाने चाहिए। स्कूल में घरेलू भाषाओं के शिक्षण के महत्व का बढ़ा–चढ़ा कर बखान करना कठिन है। यद्यपि बच्चे स्कूल में बुनियादी संवाद क्षमता के कौशल में समर्थ होकर आते हैं, उनको स्कूल में संज्ञानात्मक रूप से उच्चस्तरीय भाषिक क्षमता को अपनाने की ज़रूरत होती है। बुनियादी भाषा–क्षमता ऐसे मामलों के लिए तो पर्याप्त होती है जहाँ सुसंदर्भित और संज्ञानात्मक रूप से कुछ खास हवाले नहीं देने होते, जैसे बच्चों के अपने समूह में बातचीत के लिए। लेकिन उच्च स्तर की अभिव्यक्ति–क्षमता की आवश्यकता तब पड़ती है जब परिस्थितियों के संदर्भ कमज़ोर हों और वे संज्ञानात्मक माँग करें, जैसे किसी अमूर्त विषय पर निबंध लिखना। यह अब स्थापित हो चुका है कि उच्चस्तरीय भाषिक कौशल का एक भाषा से दूसरी भाषा में आसानी से स्थानांतरण हो सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उसके लिए हर संभव प्रयत्न करें ताकि स्कूल स्तर पर भारतीय भाषाओं में सतत शिक्षा को समृद्ध किया जा सके। भाषा शिक्षण केवल भाषा की कक्षा तक सीमित नहीं होता। विज्ञान, सामाजिक विज्ञान या गणित की कक्षाएं भी एक तरह से भाषा की ही कक्षा होती हैं। किसी विषय को सीखने का मतलब है उसकी अवधारणाओं को सीखना, उसकी शब्दावली को सीखना, उनके बारे में आलोचनात्मक ढंग से चर्चा करना और उनके बारे में लिख सकना। कुछ विषयों को लेकर विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाए कि वे अलग–अलग पुस्तकों का अध्ययन करें या उन भाषाओं में लोगों से बातचीत करें, इंटरनेट से अंग्रेज़ी में सामग्री एकत्रित करें। भाषा को लेकर पाठ्यचर्या में ऐसी नीति अपनाने से स्कूल में बहुभाषिकता को बढ़ावा मिलेगा। साथ ही, भाषा की शिक्षा कुछ अनूठे अवसर उपलब्ध कराती है। कहानी, कविता, गीतों और नाटकों के माध्यम से बच्चे अपनी सांस्कृतिक धरोहर से जुड़ते हैं और इससे उनको अपने अनुभव विकसित करने और दूसरों के प्रति सवंदेनशील होने के अवसर मिलते हैं

हम यह भी ध्यान दिला दें कि बच्चे इस प्रकार की गतिविधियों के माध्यम से व्याकरण भी अधिक आसानी से सीख सकते हैं न कि उबाऊ व्याकरण शिक्षण से। विभिन्न योग्यताओं वाले बच्चे सामान्य सामाजिक व्यवहारों से बुनियादी भाषा–क्षमता का विकास कर लेते हैं। लेकिन उनको विशेष रूप से तैयार की गई सामग्री अलग से भी

साहित्य भी बच्चों की रचनाशीलता को बढ़ा सकता है। कोई कहानी, कविता या गीत सुनकर बच्चे भी स्वयं कुछ लिखने की दिशा में प्रवृत्त हो सकते हैं। उनको इसके लिए भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे अलग–अलग रचनात्मक अभिव्यक्ति के माध्यमों को आपस में मिलाएं।

दिए जाने की ज़रूरत है ताकि उनकी वृद्धि और विकास पर्याप्त ढंग से हो सके। अन्य बच्चों के लिए ब्रेल और संकेत भाषा वैकल्पिक अध्ययन के तौर पर रखी जा सकती है।

द्वितीय भाषा सीखना

भारत के बहुभाषी समाज में अंग्रेज़ी एक वैश्विक भाषा है। यहां अंग्रेज़ी–शिक्षण में विविधता की स्थिति दो कारणों से है, एक शिक्षकों की अंग्रेज़ी में दक्षता और विद्यार्थियों का स्कूल से बाहर अंग्रेज़ी भाषा से सामना। अंग्रेज़ी आरंभ करने के स्तर का मुद्दा जनता की आकांक्षाओं का राजनीतिक प्रत्युत्तर है, नाकि इसके पीछे कोई अकादमिक या साध्यता का मुद्दा है। अंग्रेज़ी को पाठ्यचर्या में किस स्तर से पढ़ाया जाए इस बारे में जनता की प्राथमिकताओं का आदर करना होगा इस आश्वासन के साथ कि हम उस तंत्र को और अधिक नीचे न ले जाएँ जो अपेक्षित परिणाम देने में असफल रहा है। द्वितीय भाषा की पाठ्यचर्या के दोहरे लक्ष्य हैं: वैसी बुनियादी दक्षता प्राप्त करना, जैसी प्राकृतिक भाषा ज्ञान में अर्जित की गई हो, और साक्षरता द्वारा भाषा का ऐसा विकास कि वह अमूर्त चिंतन और ज्ञान का उपकरण बने (उदाहरण के लिए)। यह संपूर्ण पाठ्यचर्या संबंधी उपागम की बात करता है, जो अंग्रेज़ी और अन्य विषयों तथा अंग्रेज़ी या अन्य भारतीय भाषाओं की दीवार को तोड़ दे। आरंभिक स्तर पर, अंग्रेज़ी वह भाषा हो सकती है जिसके माध्यम से बच्चों को ऐसी शैक्षणिक गतिविधियाँ करवाई जाएँ जिससे दुनिया के बारे में बच्चे की जागरूकता बढ़े। बाद के चरणों में, सभी अधिगम भाषा के ज़रिए होते हैं। उच्च स्तर का भाषा–कौशल सभी भाषाओं में समान होता है; पढ़ना (उदाहरण के लिए) एक ऐसा कौशल है जो दूसरों को सिखाया जा सकता है। एक भाषा में इसके सुधार का असर अन्य भाषाओं में भी सुधार लाता है। अपनी भाषा में पढ़ने में यदि कोई असफल होता है, तो उससे दूसरी भाषा के पठन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अंग्रेज़ी एकाकी नहीं है। अंग्रेज़ी शिक्षण का लक्ष्य ऐसे बहुभाषी लोगों को तैयार करना है जो हमारी भाषाओं को समृद्ध कर सकें; यह एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है। विभिन्न राज्यों में अन्य भारतीय भाषाओं के साथ अंग्रेज़ी का स्थान बनाने की आवश्यकता है, जहां अन्य भाषाएं अंग्रेज़ी सीखने–सिखाने को समृद्ध करें; और अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों में अंग्रेज़ी के वर्चस्व को कम करने के लिए अन्य भारतीय भाषाओं के मूल्यवर्धन की ज़रूरत है। अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों की तुलनात्मक सफलता यह बताती है कि भाषा तब सीखी जाती है जब वह भाषा के रूप में नहीं पढ़ाई जाती बल्कि सार्थक संदर्भों से जोड़कर उसे पढ़ाया जाता है। इसलिए अंग्रेज़ी को अन्य विषयों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से संपूर्ण पाठ्यचर्या के अंतर्गत भाषा शिक्षण का विशेष महत्व है और बाद में सभी शिक्षण एक अर्थ में भाषा शिक्षण ही होता है। यह दृष्टिकोण विषय के रूप में अंग्रेज़ी' और 'माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी' की दूरी को पाट सकेगा। इस तरह से हमें समान रूप से स्कूली पद्धति की दिशा में प्रगति कर सकते हैं जिसमें भाषा शिक्षण और शिक्षण के माध्यम के रूप में भाषा के उपयोग में भेद न हो। निवेश–समृद्ध संप्रेषण का वातावरण भाषा शिक्षण की पूर्व शर्त है, चाहे वह पहली भाषा हो या दूसरी। निवेश के अंतर्गत आते हैं – पाठ्यपुस्तकें, शिक्षार्थी द्वारा चयनित पाठ और कक्षा पुस्तकालय जिसमें अनेक विधाओं के लिए जगह हो; छपी सामग्री (उदाहरण के लिए युवा शिक्षार्थियों के लिए बड़ी पुस्तकें); एक से अधिक भाषा में समांतर पुस्तकें और सामग्री; मीडिया सामग्री (मैगजीन/समाचारपत्र के स्तंभ, रेडियो/ऑडियो कैसेट); और प्रामाणिक सामग्री । वंचित शिक्षार्थियों के लिए भाषा माहौल को समृद्ध बनाने की ज़रूरत है जिसके लिए स्कूलों को सामुदायिक शिक्षण केंद्र के रूप में विकसित करना चाहिए। इस दिशा में कई सफल नवाचार

संविधान द्वारा हर बच्चे को आठ साल की शिक्षा की गारंटी दी गई है, जिसके अंतर्गत अंग्रेज़ी भाषा में दक्षता चार वर्षो की अवधि में प्राप्त करना संभव होना चाहिए। प्रारंभ से ही स्कूल में बहुभाषिक माहौल बनाने से उसके दुष्प्रभाव भी सामने आ सकते हैं। जैसे अपनी भाषा का क्षरण और न समझ पाने का बोझ।

मौजूद हैं जिनके सामान्यीकरण को खोजने और बढ़ावा देने की ज़रूरत है। पद्धतियां और दृष्टिकोण विशिष्ट न हों, बल्कि मोटे तौर पर विस्तृत संज्ञानात्मक दर्शन के अनुकूल रहते हुए पारस्परिक रूप से समर्थक हों (जिसमें वायगोत्सकी, पियाजे और चॉमस्की के सिद्धांत शामिल हों)। उच्चस्तरीय कौशल (जिसमें साहित्यिक आस्वाद और जेंडर संबंधी दृष्टिकोण निर्धारण में भाषा की भूमिका शामिल है) विकसित करने की ओर तब ध्यान दिया जाए जब बुनियादी दक्षता सुनिश्चित हो चुकी हो।

शिक्षक की शिक्षा सतत, जहां वह शिक्षण कार्य कर रहा हो वहां (औपचारिक या अनौपचारिक सहायक व्यवस्थाओं द्वारा), साथ ही उसे तैयार करने वाली होनी चाहिए। दक्षता और व्यावसायिक जागरूकता को समान रूप से बढ़ावा दिए जाने की ज़रूरत है और व्यावसायिक जागरूकता जहां आवश्यक हो उसे शिक्षक की अपनी भाषा के माध्यम से दिए जाने की ज़रूरत है। जो भी शिक्षक अंग्रेज़ी पढ़ाते हों उनकी अंग्रेज़ी में बुनियादी दक्षता होनी चाहिए। ण

हर शिक्षक में यह कौशल होना चाहिए कि वह परिस्थिति व स्तर के अनुसार उपयुक्त तरीके से अंग्रेज़ी पढ़ा सके। इसके लिए विविध प्रकार की सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए ताकि पाठ्यचर्या निवेश–समृद्ध हो और अर्थ पर ज़ोर दे। भाषा–संबंधी मूल्यांकन को किसी विशेष पाठ्यक्रम के संदर्भ में उपलब्धियों से नहीं बांधना चाहिए, बल्कि उसे भाषा दक्षता के मापने में पुनःनियोजित किया जाना चाहिए। मूल्यांकन को बाधा के रूप में देखने के बजाए अधिगम की समर्थक प्रक्रिया के रूप में देखने की ज़रूरत है। शिक्षार्थी की प्रगति का निरंतर आकलन होना चाहिए और पोर्टफोलियो के रूप में उसका लेखन रखना चाहिए। भाषा क्षमता में राष्ट्रीय मानदण्डों को विकसित करने की ज़रूरत है जिसके बाद वैकल्पिक अंग्रेज़ी भाषा के परीक्षणों का एक समुच्चय बनाया जाए जिससे पाठ्यचर्या में आज़ादी और मूल्यांकन के मानकीकरण के बीच संतुलन हो।

इससे अंग्रेज़ी की मौजूदा समस्या को हल करने में मदद मिलेगी क्योंकि कक्षा 10 की असफलता में अंग्रेज़ी एक मुख्य कारण है। विद्यार्थी को अंग्रेज़ी के बिना भी पास होने की इजाज़त दी जा सकती है अगर नियमित स्कूली व्यवस्था के बाहर अंग्रेजी दक्षता के लिए सर्टिफिकेट देने के लिए (अनुदेशन देने के लिए) वैकल्पिक व्यवस्था बनाई जाए।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बनाम अंग्रेज़ी

शिवदत्त

आधुनिक शिक्षाशास्त्री तथा तमाम मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मातृभाषा द्वारा शिक्षण दिये जाने से विद्यार्थी सहजता, स्पष्टता तथा शीघ्रता से सीखते हैं और यह सीखने की स्वाभाविक प्रक्रिया भी है। भाषा के रूप में अंग्रेज़ी ही नहीं, किसी भी अन्य भाषा को सिखाने के प्रति गांधीजी का कोई विरोध नहीं था। मुख्य सवाल तो शिक्षा के माध्यम का है। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिए तथा दूसरी भाषा भी प्राथमिक शिक्षा के बाद ही सिखायी जानी चाहिए।

गांधीजी के लिए मातृभाषा या देशी भाषाओं का सवाल केवल शैक्षणिक ही नहीं, बल्कि उसके अन्य अत्यन्त गहरे निहितार्थ भी थे। डॉ. प्राणजीवन मेहता द्वारा प्रकाशित गुजराती पुस्तक 'हिन्दी नी शालाओं अने कालेजोमा देशी भाषा शिक्षण ना वाहन तरीके' की प्रस्तावना में गांधीजी लिखते हैं कि ''शिक्षा के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं का सवाल राष्ट्रीय महत्त्व का है। देशी भाषा जारी रखने की हिमायत करनेवाले बहुत से लोग यह कहते सुने जाते हैं कि अंग्रेज़ी शिक्षा पानेवाले भारतीय ही जनता के और राष्ट्रीय काम के रक्षक हैं। ऐसा न हो तो वह भयंकर स्थिति मानी जाएगी। इस देश में जो भी शिक्षा दी जाती है, वह अंग्रेजी भाषा द्वारा दी जाती है। सच्ची हालत यह है कि हम अपनी शिक्षा पर जितना समय ख़र्च करते हैं, उसके हिसाब से नतीजा कुछ भी नहीं मिलता। हम आम लोगों पर कोई असर नहीं डाल सके।

इस विषय पर ताज़ा से ताजा बयान वायसराय (लॉर्ड चैम्सफोर्ड) का है। ये साहब कोई एक रास्ता नहीं बता सके। फिर भी वे हमारे स्कूलों में देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने की ज़रूरत अच्छी तरह समझते हैं। मध्य और पूर्वी यूरोप की यहूदी दुनिया के बहुत से हिस्सों में फैल गए हैं। उन्होंने आपस के व्यवहार के लिए एक समान भाषा की ज़रूरत जानकर इंडिश को भाषा का दर्जा दिया है। उन्होंने दुनिया के साहित्य में मिलनेवाली अच्छी से अच्छी किताबों

का इंडिश में अनुवाद करने में सफलता पाई है। वे बहुतेरी दूसरी भाषाएं अच्छी तरह जानते हैं, फिर भी उनकी आत्मा को परायी भाषा में शिक्षा मिलने से शान्ति नहीं मिली। इसी तरह उनके छोटे से वर्ग ने यह नहीं चाहा कि अपनी हैसियत समझ सकने के पहले यहूदी जनता को विदेशी भाषा सीखने की तकलीफ़ उठानी चाहिए। इस तरह जो किसी समय एक टूटी–फूटी बोली समझी जाती थी, जिसे यहूदी बच्चे अपनी मां से सीखते थे, उसी को उन्होंने अपने विशेष प्रयत्न से दुनिया के अच्छे से अच्छे विचारों का अनुवाद करके कीमती बना लिया है। सचमुच यह एक अद्‌भुत काम है। यह काम आज की पीढ़ी ने किया है। यदि वे यहूदी विद्वान एक पीढ़ी में ही अपनी जनता को एक भाषा दे सके हैं– जिसके लिए उन्हें गर्व है– तो हमारी देशी भाषाओं की जो परिपक्व भाषाएं हैं, दोष दूर करने का काम तो हमारे लिए अवश्य ही आसान होना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीका हमें यही पाठ पढ़ाता है। वहां डच भाषा की अपभ्रंश 'टाल' और अंग्रेज़ी के बीच होड़ होती थी। बोअर माताओं और पिताओं ने निश्चय किया था कि हमें अपने बच्चों पर, जिनके साथ हम बचपन में 'टाल' भाषा में बातचीत करते हैं, अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा लेने का बोझ नहीं डालने देंगे। वहां भी अंग्रेजी का पक्ष बड़ा ज़ोरदार था, उसके हिमायती शक्तिवाले थे। परन्तु बोअर देशाभिमान के सामने अंग्रेजी भाषा को झुकना पड़ा था यह जानने लायक बात है कि उन्होंने ऊंची डच भाषा को भी नामंजूर कर दिया। स्कूलों के शिक्षकों को भी जिन्हें यूरोप की सुधरी हुई डच बोलने की आदत पड़ी हुई है, ज़्यादा आसान 'टाल' भाषा बोलने को मजबूर होना पड़ा है और दक्षिण अफ्रीका में 'टाल' भाषा में, जो कुछ ही वर्षों पहले सादे परन्तु बहादुर देहातियों के बीच बात करने का साधन था, आजकल उत्तम प्रकार का साहित्य उन्नति कर रहा है।

यदि हमारा विश्वास हमारी भाषाओं पर से उठ गया हो तो वह इस बात की निशानी है कि हमारा अपने आप पर विश्वास नहीं रहा। यह हमारी गिरी हुई हालत की साफ़ निशानी है और जो भाषाएं हमारी माताएं बोलती है, उनके लिए हमें ज़रा भी मान न हो, तो किसी भी तरह की स्वराज्य योजना, भले ही वह कितनी ही परोपकारी वृत्ति या उदारता से हमें दी जाय, हमें कभी स्वराज्य भोगनेवाली प्रजा नहीं बना सकेगी।

कर्वे महाविद्यालय में हैदराबाद रियासत के शिक्षा मंत्री नवाब मसूद जंग बहादुर ने देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने की ज़बरदस्त वकालत की थी उसका जवाब 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने दिया। टाइम्स ऑफ इण्डिया ने जो जवाब दिया उसमें से निम्नलिखित भाग गांधीजी के पास उनके एक मित्र ने जवाब देने के लिए भेजा–

''इन नेताओं के लेखों में जो कुछ भी क़ीमती और फल देनेवाली चीज़ है, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पश्चिमी संस्कृति का फल है। ....पिछले 60 साल का इतिहास देखने के बजाय 100 वर्ष का इतिहास देखें, तो भी हमें मालूम होगा कि राजा राममोहन राय से लेकर लगातार महात्मा गांधी तक जिस किसी भारतीय ने किसी भी दिशा में कोई भी तारीफ के लायक काम किया हो, तो वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पश्चिमी शिक्षा का परिणाम है।''

उपरोक्त अंश पर टिप्पणी करते हुए गांधीजी ने 'नवजीवन' के जुलाई, 1928 के अंक में लिखा कि ''इस उद्धरण में अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा के माध्यम के रूप में क़ीमत नहीं बतायी गयी है। बात इसी की है कि पश्चिमी सभ्यता ने ख़ास–ख़ास मनुष्यों पर क्या असर डाला है। पश्चिमी सभ्यता के महत्त्व या प्रभाव के बारे में नवाब ने या दूसरे किसी ने भी कोई विरोध नहीं किया है। जिस चीज़ का विरोध किया जाता है, वह तो यह है कि पश्चिमी सभ्यता के लिए भारतीय या आर्य– संस्कृति का बलिदान किया जाता है। यदि यह भी सिद्ध कर दिया जाए कि पश्चिमी शिक्षा पूर्वी या आर्य संस्कृति से बढ़कर है, तो भी भारत की अत्यन्त होनहार सन्तानों को पश्चिमी शिक्षा देने और उन्हें आम लोगों से अलग करके राष्ट्रभ्रष्ट बनाने में सारे भारत का नुकसान है।

मेरे विचार से ऊपर के उद्धरण में बताए हुए पुरुषों ने जनता पर जो कुछ अच्छा असर डाला है, वह पश्चिमी सभ्यता के उलटे असर के होते हुए भी उसी हद तक डाला है, जिस हद तक वे आर्य–संस्कृति को अपने में पचा सके हैं। पश्चिमी सभ्यता का उलटा असर मैं इस अर्थ में कहता हूं कि आर्य–संस्कृति का पूरा

असर पड़ने में जिस हद तक वह रुकावट बना हो। मुझ पर पश्चिमी सभ्यता का जितना ऋण है, उसे खुले दिल से मैंने मंजूर किया है। फिर भी मुझे कहना चाहिए कि मैंने जनता की कुछ भी सेवा की हो, तो उसका श्रेय जिस हद तक आर्य–संस्कृति को मैंने अपने जीवन में पचाया है उसी को है। मैं यूरोपियन–सा बनकर एक राष्ट्रभ्रष्ट आदमी के रूप में जनता के सामने खड़ा होता, तो उसके बारे में मैं कुछ भी न जान सकता, उसकी उपेक्षा करता, उसके रिवाजों, विचारों और उसकी इच्छाओं को तुच्छ समझकर उसकी कुसेवा करता। जहां जनता ने अपनी सभ्यता को हजम नहीं किया हो, वहां इसका अन्दाज़ा लगाना कठिन है कि कितनी ही अच्छी होने पर भी अपने प्रतिकूल जानेवाली परायी सभ्यता के हमले का सामना करने में जनता को कितनी शक्ति ख़र्च करनी पड़ती है।

इस सारे प्रश्न पर सब तरफ़ से विचार करना चाहिए। यदि चैतन्य, नानक, कबीर, तुलसीदास और दूसरे कई सुधारकों को बचपन से अच्छी से अच्छी पाठशाला में रखा जाता, तो क्या उन्होंने ज्यादा काम किया होता? क्या 'टाइम्स' के लेख में बताए हुए पुरुषों ने इन सुधारकों से ज़्यादा काम किया है? महर्षि दयानन्द सरस्वती किसी सरकारी यूनिवर्सिटी से एम.ए. हुए होते, तो क्या वे ज्यादा काम कर सके होते? बचपन से पश्चिमी शिक्षा के ही असर में पले हुए आज के मौज उड़ानेवाले, ऐश–आराम करनेवाले और अंग्रेज़ी बोलनेवाले राजा–महाराजाओं में एक तो ऐसा बताइए, जिसका नाम बड़ी–बड़ी मुसीबतों से टक्कर लेनेवाले और अपने मावलों (महाराष्ट्र की एक पहाड़ी वीर जाति) के साथ उन्हीं का सा कठिन जीवन बितानेवाले शिवाजी के साथ लिया जा सके। इन राजाओं में से किसका आचरण भय को भगानेवाले राणा प्रताप से बढ़कर है? और इन्हें पश्चिमी सभ्यता के भी अच्छे नमूने कैसे माना जा सकता है? जब इन राजाओं की अपनी नगरियां कई दुख–दर्दों, रोगों और संकट से जल रही है, तब भी ये लंदन और पेरिस के नाच–गान में डूबे हुए हैं। जिस शिक्षा ने उन्हें अपने ही देश में परदेशी बनाया है, जो शिक्षा उन्हें अपनी प्रजा के, जिसका ईश्वर ने उन्हें शासक बनाया है, सुख–दुख में शामिल होने के बजाय यूरोप में प्रजा के धन और अपनी आत्मा को नष्ट करना सिखाती है, उस शिक्षा में घमण्ड जैसी क्या बात है?

परन्तु पश्चिमी शिक्षा की तो यहां बात ही नहीं। प्रश्न तो शिक्षा के माध्यम का है। हमें जो भी ऊंची शिक्षा मिली है या जो कुछ शिक्षा मिली है, वह सिर्फ़ अंग्रेजी भाषा द्वारा ही मिली है। इसीलिए तो आज दीये जैसी साफ़ बात, दलीलें देकर सिद्ध करनी पड़ती है कि किसी भी राष्ट्र को अपने नौजवानों में राष्ट्रीयता कायम रखनी हो, तो उन्हें ऊंची और नीची सारी शिक्षा उन्हीं की भाषा में देनी चाहिए। राष्ट्र के नौजवानों को जब तक ऐसी भाषा द्वारा ज्ञान मिलता और पचता न हो, जिसे आम लोग समझते हो, तब तक यह अपने आप सिद्ध है कि वे जनता के साथ जीता–जागता संबंध नहीं जोड़ सकते हैं और न ही हमेशा उसे कायम रख सकते हैं। परायी भाषा और उसके मुहावरों पर, जिनका इन नौजवानों की ज़िंदगी में कोई काम नहीं पड़ता और जिन्हें सीखने में उन्हें अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य की उपेक्षा करनी पड़ी है, काबू पाने में हज़ारों युवकों के कई क़ीमती वर्ष बीत जाते हैं। इसका अंदाज़ कौन लगा सकता है कि इससे जनता की कितनी अपार हानि होती है? इस मान्यता से बुरा वहम मैं नहीं जानता कि अमुक भाषा का तो विकास हो ही नहीं सकता था, अमुक भाषा में अटपटे या तरह–तरह के विज्ञान के विचार प्रकट किए ही नहीं जा सकते। भाषा तो बोलनेवालों के चरित्र और उन्नति का सच्चा प्रतिबिम्ब है।

विदेशी राज की कई बुराइयों में से एक बड़ी बुराई इतिहास में यह मानी जाएगी कि उसमें देश के नौजवानों पर परायी भाषा के माध्यम का यह घातक बोझ डाला गया। इस माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति को नष्ट कर दिया है, विद्यार्थियों की उम्र घटा दी है, उन्हें आम लोगों से अलग कर दिया है और शिक्षा को बिना कारण महंगी बना दिया है। यदि यह प्रथा अब भी जारी रहेगी, तो इससे राष्ट्र की आत्मा का ह्रास होना निश्चित है। इसलिए शिक्षित भारतीय परायी भाषा के माध्यम की भयंकर मोहनी से जितनी जल्दी छूट जाएं, उतना ही उनके लिए और राष्ट्र के लिए अच्छा है।

समग्र नई तालीम से साभार, **प्रकाशक :** सेवाग्राम वर्धा, महाराष्ट्र

ग्रामीण भारत की शिक्षा

रवींद्रनाथ टैगोर

खोज करने पर पता चलता है कि सभ्यता को विनाश की ओर ले जाने वाला एक कारण मानवीय संबंधों की विकृति या अव्यवस्था है। मज़बूत और कमज़ोर के बीच बढ़ती दूरी ने सामाजिक समरसता को नष्ट कर दिया है। सामाजिक शरीर में जीवन का प्रवाह मालिक और गुलाम, संपत्तिशाली और निर्धन वर्गों के बीच समाज के विभाजन से अवरुद्ध हो गया है। एक तरफ़ भोग की अति, दूसरी तरफ रक्ताल्प दुर्बलता से राजनीतिक शरीर को कारुणिक स्थिति में डाल दिया है। इसी छिद्र से विनाश के दूत प्रवेश करते हैं। हमारे समाज में यह दूरी कहीं और के मुक़ाबले अधिक है। दुर्भाग्य हाल के दिनों में ही उदित हुआ है।

एक समय हमारा ग्रामीण समाज जीवंत था। इसी समाज के ज़रिए समूचे देश की एकता की ज़ंजीर ढाली गई और ज्ञान, सेवा और धर्म का प्रवाह गांवों तक पहुंचता रहा। इस देश का मानस गांवों तक अपने आपको व्याप्त करके ही शरण और जीवन पाता था। यह सही है कि बहुतेरा आधुनिक ज्ञान और विज्ञान और उनके लाभों से हम वंचित थे। तब हमारे प्रयासों का घेरा अधिक संकीर्ण और कम विभिन्नता लिए था और हमारी जीवनपद्धति में इससे संबंधित तामझाम का अभाव था। लेकिन तब हमारे सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यभार अबाध चलते रहे। अब ऐसा नहीं है। जब तक नदी में जलप्रवाह बना रहता है कोई भी इस पार उस पार कर सकता है, इस या उस देश आ जा सकता है और एक दूसरे से लेन–देन जारी रह सकता है। जब पानी सूख जाता है तो नदी का गड्ढा ही अपने आप एक बड़ा अवरोध बन जाता है। आज का प्रशस्त पथ कल के जंगल में बदल जाता है। वर्तमान काल में यही हुआ है।

जिन्हें हम भद्रलोक कहते हैं उनकी शिक्षा, उनकी इच्छा, उनकी कोशिशें और उनको सुलभ अवसर मृत नदी के एक किनारे की सूखी कंदरा के समान हैः एक अलंघ्य दूरी, ज्ञान और विश्वास, रिवाजों और आदतों और दैनिक जीवन पद्धति के मामले में दूसरे किनारे पर खड़े लोगों से उन्हें अलग कर देती है। ग्रामीणों को न शिक्षा, न ही चिकित्सा सुविधा उपलब्ध है और न उनके पास धन, भोजन और वस्त्र भंडार है। दूसरी तरफ जो कॉलेज में पढ़ते हैं, वकालत या डॉक्टरी करते हैं या बैंकों में रुपया जमा करते रहते हैं, वे अगाध समुंदर द्वारा अलग–थलग कर दिए गए द्वीप पर अपने को खड़ा पाते हैं।

स्नायुतंत्र के ज़रिए शरीर के अंगों की संवदेना मस्तिष्क तक पहुंचती है और शरीर अपने अंगों की सम्मिलित चेतना के ज़रिए स्वयं के बारे में सचेत होता है। इस व्यवस्था की कोई महत्त्वपूर्ण कड़ी यदि टूट जाती है तो मृतप्राय स्थिति हो जाती है। हमारे समाज की यही स्थिति है। जो लोग हमारे देश को आज़ाद कराने की ज़ोरदार कोशिशें कर रहे हैं, उनमें भी कुछ ऐसे लोग हैं जिनकी निगाह जहां गंभीर स्थिति मौजूद है, जहां पक्षाघात के लक्षण स्पष्ट हैं, समाज के उस हिस्से तक नहीं पहुंचती। दौरा पड़ने पर वे चिल्लाते हैं : कुछ किया जाना चाहिए, लेकिन उनके हाथ उनके गले का साथ नहीं देते। देश के लिए हमारे प्रयास में देशवासी बाहर ही छोड़ दिए गए हैं। इसके हम इतने आदी हो गए हैं कि इसके विराट मखौल के प्रति भी हम सचेत नहीं होते। मुझे एक उदाहरण देने की इज़ाजत दीजिए।

हमारे देश में आधुनिक शिक्षा नामक एक चीज प्रकट हुई है। इसके नाम पर यत्रतत्र स्कूल और कॉलेज कुकुरमुत्तों की तरह सिर उठाकर खड़े हो गए हैं। इनका गठन इस तरह किया गया है कि इनका प्रकाश कॉलेज व्यवस्था के बाहर मुश्किल से पहुंचता है। सूरज की रोशनी चांद से टकराकर जितनी निकलती है, इनसे उससे भी कम रोशनी निकलती है। एक परदेशी भाषा की

मोटी दीवार इसे चारों ओर से घेरे हुए है। जब मैं अपनी मातृभाषा के ज़रिए शिक्षा के प्रसार के बारे में सोचता हूं तो उस विचार से साहस क्षीण होता है। घर की चहारदीवारी में बंद दुलहिन की तरह यह भयभीत रहती है। बरामदे तक ही इसकी स्वतंत्रता का साम्राज्य है : एक इंच आगे बढ़ी कि घूंघट निकल आता है। हमारी मातृभाषा का राज प्राथमिक शिक्षा तक सीमित है : दूसरे शब्दों में, यह केवल बच्चों की शिक्षा के लिए उपयुक्त है, माने यह कि जिसे कोई दूसरी भाषा सीखने का अवसर नहीं मिला, हमारी जनता की उस विशाल भीड़ को शिक्षा के उनके अधिकार के प्रसंग में बच्चा ही समझा जाएगा। उन्हें कभी पूर्ण विकसित मनुष्य नहीं बनना है और तब भी हम प्रेमपूर्वक सोचते हैं कि स्वराज मिलने पर उन्हें संपूर्ण मनुष्य के अधिकार हासिल होंगे।

जापान, फारस, तुर्की और मिस्र, किसी नवजाग्रत देश में शिक्षा के मामले में देश की बहुसंख्यक जनता की मुमुक्षा का ऐसा साम्राज्य मौजूद नहीं है। लगता है जैसे कि मातृभाषा कोई अपराध हो, ईसाई ग्रंथ जिसे आदिम पाप कहते हैं, वैसा कोई पाप हो। जनता के लिए उनकी मातृभाषा में शिक्षा के ज़रिए ज्ञान की चतुर्दिक पूर्णता हमारी कल्पना की सीमा से बाहर पड़ती है। यह कहना कि अंग्रेज़ी भाषा का माध्यम छोड़कर शिक्षा की पर्याप्त योग्यता संभव नहीं, यह कहने के ही बराबर है कि अंग्रेज़ी होटल के प्रबंधक को छोड़कर और किसी से पुष्टिकारक भोजन नहीं मिल सकता। इस संबंध में यह याद रखना चाहिए कि जापानी विश्वविद्यालयों ने संपूर्ण आधुनिक ज्ञान जापानी भाषा में ग्राह्य बनाकर ही देश की शैक्षिक व्यवस्था को गहन और वास्तविक बनाया। कारण है कि जापानी शिक्षा का मतलब संपूर्ण देश की शिक्षा समझता है, केवल तथाकथित संभ्रांत लोगों के अल्पसंख्यक समुदाय की शिक्षा नहीं। अब जो भी मुंह से बोलें लेकिन देश का मतलब हम संभ्रांत लोगों का देश ही समझते हैं। आम लोगों को हम निम्न श्रेणी का कहते हैं। यह परिभाषा हमारी मज्जा तक में प्रवेश कर गई है। इन तथाकथित निम्न वर्गों के लिए सभी पैमाने छोटे ही बनाए गए हैं। उन्होंने स्वयं इसके लिए अपनी मौन सहमति दे दी है। उनमें किसी भी बड़ी चीज को मांगने का साहस नहीं रह गया है। वे संभ्रांत लोगों की छाया तले घूमते फिरते हैं: उनकी उपस्थिति अस्पष्ट है और फिर भी बहुसंख्या का निर्माण वे ही करते हैं, दूसरे शब्दों में, देश की जनसंख्या का सत्तर प्रतिशत अंधेरे में डूबा है। सभ्य समाज उन्हें साफ़–साफ़ देख नहीं पाता, विश्व समाज की तो बात ही छोड़ दीजिए।

राजनीतिक बहसों की गरमी में हम जो भी कहें, अपने राष्ट्रीय अभिमान की अभिव्यक्ति में हम जितना भी ज़ोर से चीखें, सक्रिय राष्ट्रीय सेवा के प्रति हम अत्यंत उदासीन रहते हैं, क्योंकि हमारा देश प्रकाश से हीन है। मानव स्वभाव में निहित कंजूसी के कारण जिन्हें हमने नीचा रख छोड़ा है, उनके प्रति अन्याय से हम बच ही नहीं सकते। समय–समय पर उनके नाम का हम पैसा इकट्ठा करते हैं, लेकिन उनके हिस्से में शब्द ही आते हैं, पैसा तो अंततः हमारी पार्टी के ही लोगों के पास पहुंचता है। संक्षेप में, जिनके पास बुद्धि, शिक्षा, समृद्धि और सम्मान है, हमारे देश के उस अत्यंत छोटे हिस्से, पांच प्रतिशत और आबादी के अन्य पंचानवे प्रतिशत के बीच की दूरी समुंदर से भी अधिक चौड़ी है। हम एक ही देश में रहते हैं लेकिन एक ही देश के निवासी नहीं हैं।

बचपन में हमारे कमरों में जो लैंप जलाया जाता था उसमें एक हिस्सा थोड़ा सा तेल और दूसरा हिस्सा बहुत सा पानी होता था। पानीवाला हिस्सा नीचे रहता था और तेल वाला हिस्सा ऊपर रहता था। लैंप बहुत धीमा जलता था और धुआं बहुत छोड़ता था। पुराने समय में स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही थी। ऊंचे और नीचे के लोगों में इसी तरह का संबंध था। हालांकि उनकी स्थिति समान नहीं थी तो भी दोनों मिलकर एक ही लैंप जलाए रखते थे। दोनों के पास एक ही अखंड आधार पात्र था। आजकल तेल और पानीवाले हिस्से अलग–अलग दिशाओं में बंट गए हैं, तेलवाले हिस्से में रोशनी का बहुत थोड़ा प्रावधान है, पानीवाले हिस्से में तो रोशनी जलती ही नहीं।

केवल अपने ही दुर्भाग्यशाली देश में हम पाते हैं कि एक समय मिट्टी का जो दीया जलाया गया था आज उसकी भी रोशनी गुल कर दी गई है। आज के हमारे डिग्रीधारक जब गांव के बारे में सोचते हैं तो कुछ न करके भी संतोष का अनुभव करते हैं। जब तक हमारा दृष्टिकोण ऐसा ही बना रहेगा तब तक गांव के लोग

हमारे लिए अजनबी बने रहेंगे दरअसल वे अजनबी से भी कुछ अधिक रहेंगे क्योंकि स्कूलों–कॉलेजों में जो थोड़ी सी भी शिक्षा हम पाते हैं यह यूरोपीय है। उस शिक्षा की सहायता से हमें यूरोपियों को समझने और यूरोपियों को हमें समझने में आसानी होगी। इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के विचार हमें सहज सुलभ होंगे, उनकी कविता, कहानी और नाटक समझने में हमें उलझन न होगी, यहां तक कि हमारी इच्छाएं और गतिविधियां भी अधिकतर उन्हीं की नकल होंगी। जो लोग अब भी अदृश्य देवताओं और देवियों और आत्माओं के अंधविश्वासपूर्ण भय से कांपने लगते हैं और तांत्रिकों और पुजारियों के ही संरक्षण में बढ़ते हैं, उनसे हालांकि हम अभी ऊंचे नही उठ पाए हैं लेकिन उनसे दूर जरूर चले आए हैं। हममें उन्हें जानने की कोई उच्च उत्सुकता भी नहीं दिखाई देती।

हमारे कॉलेजों में जो लोग अर्थशास्त्र और नृतत्वशास्त्र की पढ़ाई करते हैं वे हमारे पड़ोसी ग्रामीणों के तौर तरीक़ों, रीतिरिवाजों और सामाजिक संगठन के बारे में यूरोपीय विद्वानों द्वारा बताए जाने की प्रतीक्षा करते हैं। वे निम्नवर्गीय हैं, जो थोड़ी सी मानवीय सहानुभूति हममें बची है उसकी रोशनी में वे हमारे लिए अदृश्य हैं। पश्चिम के नाना प्रकार के 'आंदोलनों' का इतिहास हमारे शिक्षित वर्गों ने आद्यंत देख डाला है लेकिन इस बात से कतई अनभिज्ञ हैं कि हमारे जनता में असंख्य आंदोलन होते रहे हैं। जानने की कोई उत्सुकता नहीं क्योंकि परीक्षा पास करने के लिए नंबर जुटाने में इसका कोई उपयोग नहीं है। जनसमुदाय में आउल और बाउल की तरह के कई धार्मिक संप्रदाय हैं और उनसे नफरत नहीं करनी चाहिए। कई मामलों में उनमें ऊपरी तबकों के नए ढर्रे के धार्मिक प्रयासों से अधिक गहराई है। इन संप्रदायों में जो साहित्य भी लिखा गया है, वह सम्मान और संरक्षण के काबिल है। लेकिन अब यह है कि वे निम्नवर्गीय जन हैं।

सभी देशों में नृत्य को एक कला समझा जाता है और अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में उसे सम्मान प्राप्त हैं। चूंकि ऊपरी तबकों से यह गायब हो गया है इसलिए हम मानकर चलते हैं कि नृत्य हमारे यहां मौजूद नहीं। बहरहाल, जनसमुदाय में नृत्य अनेक रूपों में मौजूद है लेकिन अब वे निम्नवर्गीय हैं। इसलिए जो कुछ उनके पास है वह हमारा नहीं है। अगर यह सौंदर्य और निपुणता से भरा भी है जो हम इस पर शर्मिंदा होते हैं। संभवतः ये लोककलाएं धीरे–धीरे खत्म हो रही है, लेकिन हम इन्हें याद करने योग्य भी नहीं समझते क्योंकि हम उनके सृजकों को अपने में से ही नहीं मानते।

कवि ने कहा है कि : 'अपने ही देश में अजनबी तुम हो गए हो।' वस्तुतः उनका मतलब है कि हम विदेशी शासन के मातहत हैं। और अधिक सच्चाई और मजबूती के साथ कहा जा सकता है कि हम अपने देश में अजनबी हैं, अर्थात जिस देश में हमारी प्रजाति के बहुसंख्यक लोग रहते हैं, वह देश हमारा नहीं रह गया है। वह देश हमारे लिए अदृश्य और अबूझ हो गया है। जब हम जोर से अपने देश को माता कहते हैं तो भीतर ही हम जानते हैं कि वह माता केवल कुछ बिगड़े बच्चों की मां है। क्या हम इसी तरह रहेंगे? क्या मतदान का अधिकार ही हमारा अंतिम मोक्ष होगा?

हृदय की इस व्यथा के साथ, देशवासियों की गहरी उदासीनता के बीच और सभी लोगों की सहायता से वंचित होकर हम लोगों ने इन कुछ ग्रामीणों में जीवन जाग्रत करने के लिए हुताग्नि प्रज्वलित की है। जो लोग कुछ भी नहीं करते वे भी घृणापूर्वक पूछ सकते हैं: 'इससे किसका भला होगा?' हमें मानना होगा, तैंतीस करोड़ लोगों की जिम्मेदारी उठाने में हम सक्षम नहीं हैं। हम कल्पना में भी नहीं सोचते कि अपनी गतिविधियों के आयामों की गिनती का हमें कभी घमंड होगा। लेकिन इसकी सच्चाई का गर्व तो हमें करने दीजिए। हमारी आत्मा कभी इतनी दरिद्र न हो कि हम कह सकें कि ग्रामीण लोगों के लिए थोड़ा भी बहुत है। टुकड़े फेंककर उनका असम्मान मत प्रदर्शित कीजिए। हमें 'श्रद्धापूर्वक दान' करना चाहिए। ईश्वर करे ग्रामीणों के लिए अपने को न्योछावर करने में हममें श्रद्धा की कभी कोई कमी न हो।

साभार – रवींद्रनाथ का शिक्षा दर्शन, अनुवादक– गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली

बहुभाषिता, साक्षरता, भाषा–शिक्षण एवं बौद्धिक विकास

रमा कान्त अग्निहोत्री

हमारा देश किस मायने में बहुभाषी है, यह समझना ज़रूरी है। ख़ासकर उन लोगों के लिए जो साक्षरता, शिक्षा, बौद्धिक विकास एवं सामाजिक बदलाव के साथ जुड़े हैं। कुछ लोग तो केवल यही समझते हैं कि भारत बहुभाषी है क्योंकि उसके संविधान की आठवीं सूची में 18 भाषाएं अनुसूचित हैं। हमारा देश केवल अपने संविधान की ही दृष्टि से बहुभाषी नहीं, यह अलग बात है कि उसका संविधान कई भाषाई आयामों की दृष्टि से अनूठा है। जब संविधान लागू हुआ तो केवल 14 भाषाएं थीं, आठवीं सूची में 1967 में सिंधी जोड़ दी गई व 1992 में कोंकणी, मणिपुरी व नेपाली। स्पष्ट है कि भारतीय गणतंत्र में इतनी जगह है कि जब भी कोई समुदाय चाहे तो उपयुक्त राजनीतिक एवं प्रशासनिक तरीक़ों से आठवीं सूची में अपनी भाषा का नाम जुड़वा सकता है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इसके लिए कोई आवश्यक नहीं कि उस भाषा की अपनी विशेष लिपि हो या कोई प्राचीन लंबा–चौड़ा साहित्य हो। एक बात और महत्त्वपूर्ण है संविधान की दृष्टि से। भारतीय संविधान बनाने वालों ने राष्ट्रभाषा का सवाल नहीं उठाया। इस बात से देश को मुक्त रखा कि राष्ट्र, राष्ट्रीयता व राष्ट्रभाषा में कोई अनिवार्य समीकरण है– ऐसे समीकरण जो लगभग सभी अन्य देशों में अनिवार्य माने जाते हैं। बहुत अधिक हुआ तो राज्य की दो, राष्ट्रीय भाषाएं मान ली। भारत में हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया, हिन्दी के प्रचार, विस्तार व मानकीकरण के लिए प्रावधान रखे व अंग्रेज़ी को सह–राजभाषा का दर्जा दिया और अहिंदीभाषी भारतीयों को यह आश्वासन कि जब तक वे नहीं चाहेंगे, अंग्रेज़ी को इस देश से हटाया नहीं जाएगा। इन सब बातों के बावजूद, संवैधानिक बहुभाषिता भारत के बहुभाषी होने का केवल एक आयाम है जो उसकी बहुभाषिता की रक्षा तो करता है उसके मर्म को नहीं समझता। यह संविधान का काम भी नहीं है शायद।

कुछ अन्य लोग कहते हैं कि भारत में केवल 18–20 नहीं अपितु 1632 भाषाएं हैं, क्योंकि ऐसी गिनती जनगणना दफ़्तर ने की है। इसलिए भारत बहुभाषी है। राजनीतिक या अन्य कारणों की वजह से गिनती करते वक़्त कई छोटे–मोटे समुदायों की भाषाएं, जो एक दूसरे से काफ़ी मेल खाती थीं, अलग–अलग गिना गया; और दूसरी तरफ़ भोजपुरी, अवधी, मैथिली, बुंदेली आदि जैसी मुख्य भाषाओं को हिन्दी भाषा के अन्तर्गत गिन लिया गया। उत्तर भारत मुख्यतः हिन्दीभाषी है, ऐसी मान्यता बनाने के लिए आख़िर कोई आधार तो बनाना ही था। स्पष्ट है कि बहुभाषिता का एक आयाम यह भी है कि आप भाषा किसे कहते हैं। भाषा व बोली में अंतर करते हैं या नहीं। समाज भाषा किसे मानता है? भाषा वैज्ञानिक, भाषा किसे मानते हैं? क्या भाषा के बारे में समाज से हटकर कुछ भी सोचा जा सकता है? भाषा वैज्ञानिक होने के नाते मैं समाज से कितना भी कहूं कि अवधी अपने आप में एक भाषा है व हिन्दी की मां जैसी है, समाज यही कहेगा कि अवधी हिन्दी की एक बोली है। भाषाविदों ने तो कह दिया कि एक शब्दकोश व कुछ संरचनात्मक नियमों की नियमबद्ध व्यवस्था भाषा है। अब इस परिभाषा में न तो समुदाय के लिए कोई स्थान है, न जनगणना की राजनीति के लिए और न ही मानकीकरण के सामाजिक परिणामों के लिए।

कुछ लोग भारत को बहुभाषी इसलिए मानते हैं क्योंकि हमारे यहां अख़बार, फ़िल्में, किताबें, टी.वी., रेडियो, शिक्षा, दफ़्तर, कचहरी आदि का कामकाज कई भाषाओं में एक साथ होता है। कोठारी कमीशन से लेकर आज तक त्रिभाषा सूत्र भारतीय शिक्षा का आधार–सा बना हुआ है। यह बात

अलग है कि कुछ अनुसूचित जातियों के लिए इसका अर्थ रहा है, चार या पांच भाषाएं व कुछ समृद्ध उत्तर–भारतीयों के लिए केवल एक या दो।

असल में भारतीय बहुभाषिता के कई आयाम हैं और यह कोई हैरानी की बात नहीं कि पश्चिमी एक भाषी देशों को यह सब एक सिरदर्दी–सा लगता है, अधिकतर पिछड़ेपन से जुड़ा हुआ। अभी तक जितने पहलुओं की हमने चर्चा की है उन सभी में भारतीय बहुभाषिता का कोई–न–कोई अंश अवश्य निहित है लेकिन सबको मिलाकर भारत की बहुभाषिता परिभाषित नहीं की जा सकती और उसको समझे बिना, उसके प्रति संवेदनशील हुए बिना, किसी भी साक्षरता, शिक्षा या सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रम को कैसे सफल बनाया जा सकता है?

सबसे मुख्य बात तो यह है कि बहुभाषी होना व्यक्तिगत या सामाजिक स्तर पर भारत के लिए कोई सिरदर्दी का विषय नहीं रहा कभी भी। कई भाषाओं को अपने–आप में समेट लेना व अन्य देश–विदेश की भाषाओं से स्वतंत्रतापूर्वक आदान–प्रदान करना, भारतीय व्यक्ति व समाज के लिए एक सामान्य बात है। यहां यह कोई अचरज की बात नहीं कि बेटा मां–बाप से तो भोजपुरी में बात करता है, पुराने दोस्तों से भोजपुरी व हिन्दी में कॉलेज के दोस्तों से हिन्दी या अंग्रेज़ी में व अपने व्यवसाय का सारा काम केवल अंग्रेज़ी में करता है। यही नहीं कई परिस्थितियों में तो ऐसा भी होता है कि दो या अधिक भाषाएं मिल–जुल जाती हैं ऐसी प्रक्रिया से भाषाएं समृद्ध होती हैं न कि खिचड़ी बनती हैं। एक भाषी मापदंडों से बहुभाषी क्षमता को नापा नहीं जा सकता। भाषाएं मरती नहीं हमारे यहां अक्सर बदलती रहती हैं। कोई भी समुदाय अपनी भाषाई पहचान को आसानी से नहीं छोड़ता। आज भी लोग बहस करते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का माध्यम अंग्रेज़ी थी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू या लोगों की स्थानीय भाषाएं किसी–न–किसी स्तर पर मानना पड़ेगा कि सभी थीं। जब तक कोई विशेष राजनैतिक या धार्मिक प्रश्न सामने नहीं आता, हम एक भाषा, एक भौगोलिक परिधि, एक समुदाय, एक धर्म आदि के चक्रव्यूह से दूर ही रहते हैं।

पर ऐसा तो नहीं है कि भाषा, सामाजिक सत्ता व राजनीति में कोई संबंध नहीं। न जाने कितने वर्षों से संघ लोक सेवा आयोग के बाहर कई लोग इसलिए धरना दिए बैठे हैं क्योंकि उनके मतानुसार अंग्रेज़ी का ज्ञान भारतीय शासकीय तंत्र में कोई पद प्राप्त करने के लिए आवश्यक नहीं होना चाहिए। वे नहीं मानते कि केवल अंग्रेजी ही ज्ञान की भाषा है हमारे लिए या अंग्रेज़ी के बिना भारत का वैज्ञानिक व तकनीकी विकास संभव ही नहीं। या कि हम और अधिक पिछड़ जाएंगे, हमारे विचार फिर से दकियानूसी हो जाएंगे, वो जो विश्व के साथ जुड़े रहने का एक झरोखा है, हमारे पास वह बन्द हो जाएगा। उनका कहना है कि यदि फ्रांस अपना काम फ्रेंच में व जर्मनी अपना काम जर्मन में कर सकता है तो भारत अपना काम भारतीय भाषाओं में क्यों नहीं कर सकता। ऐसा क्यों है कि अंग्रेज़ी ही सामाजिक सत्ता पाने का एकमात्र तरीक़ा है? ऐसा क्यों है कि हर महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में वैज्ञानिक या तकनीकी, शैक्षिक या व्यापारी, शासकीय या न्यायिक, चिकित्साशास्त्रीय या औद्योगिक– सभी जगह अंग्रेजी वालों का बोलबाला है? ऐसा क्यों है कि त्रिभाषीय कार्यक्रम हिन्दीभाषी क्षेत्रों में अधिकतर द्विभाषी होकर रह गया? भाषा और राजनीति में गहरे संबंध से आप कहां तक भागेंगे? हाल ही के कुछ ऐतिहासिक मुद्दों में भाषा का प्रयोग किस प्रकार हुआ है, इस पर एक नज़र डालें। बाबरी मस्जिद के सिलसिले में संघ परिवार से जुड़ा एक पूरा मिनी शब्दकोश आग की तरह सारे भारत में फैल गया और जब तक मस्जिद गिरी नहीं, उस शब्दकोशीय भाग को बराबर हवा दी जाती रही। अब नई आर्थिक नीति को लेकर एक बहुत ही मोहक शब्दकोश लोगों तक इस खूबसूरती से पहुंचाया जा रहा है कि लोग उसे लगभग अपना ही मानने लग गए हैं। भाषा के राजनैतिक आयामों की वास्तविकता अब कुछ साफ होने लगी है। कुछ झारखंड में, कुछ सिंधी, कोंकणी, नेपाली व मणिपुरी के संविधान की आठवीं सूची में आने से, कुछ उन लोगों के प्रयासों की विफलता से जो साक्षरता से जुड़े हैं और कुछ उन लोगों की घोर निराशा से जो दूर–सुदूर गांवों में जाकर एक तरफ़ तो गांववालों की

भाषाओं को बदलना ही नहीं अपितु समृद्ध करना चाहते हैं और साथ ही उन्हें सामाजिक तरक़्क़ी हेतु मानकीकृत भाषाएं पढ़ाने पर भी अपने आप को मजबूर पाते हैं। बहुभाषिता के इस तरह कई आयाम हैं। एक अपार स्रोत है हमारे शक्ति का। लेकिन यदि हम बहुभाषिता के बारे में और अधिक संवेदनशील होकर कुछ गहराई से नहीं सोचेंगे तो हम इस प्राचीन सदियों से चली आ रही, हमारे दर–दर में बसी संपत्ति का कुछ क्रियात्मक प्रयोग नहीं कर पाएंगे। यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे अधिकतर भाषावैज्ञानिक अपने शोध कार्य को संरचनात्मक सीमाओं में ही रखते हैं। उसे ही विज्ञान समझते हैं! और अधिकतर जो बातें संरचना की दृष्टि से पश्चिमी भाषाओं में दिखाई जा चुकी हैं उन्हें अपनी भाषाओं में निरन्तर ढूंढ़ने का प्रयास करते रहते हैं। शायद वह समय आ गया है कि यदि भाषाविज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है तो भाषाविद् अपने आप से कुछ सामाजिक सवाल पूछें व अपने शोध कार्य को उन सवालों से जोड़ें।

साक्षरता

साक्षरता कार्यक्रमों में शिक्षाकर्मी अक्सर ये मानकर चलते हैं कि जो पढ़ा–लिखा नहीं है वह अज्ञानी है और अज्ञान का यही अंधेरा उसकी गरीबी व दुःखों का एकमात्र या मुख्य कारण है। वे लोग यह भी मानकर चलते हैं कि साक्षरता से, यानी लिखना–पढ़ना सीखने से या कुछ गिनती व पहाड़े याद करने से उसका अज्ञान दूर हो जाएगा और उसके साथ–साथ ग़रीबी भी। ऐसी अवधारणाएं कितनी गलत, बेबुनियाद व ख़तरनाक हो सकती हैं, यह समझाने में एक भाषावैज्ञानिक काफी मदद कर सकता है। वह शायद यह भी समझा सकता है कि इस प्रकार की अवधारणाएं मासूमियत की निशानी नहीं, पर उनके पीछे एक पूरा राजनीतिक एजेण्डा छुपा रहता है। पहली बात तो यह कि जिसे पढ़ना–लिखना नहीं आता वह अज्ञानी नहीं है। वह पूरी तरह से अपनी भाषा या भाषाएं समझ व बोल सकता है। उनमें कहानी व कविता कह सकता है। विवरण व इतिहास सुना सकता है। अपनी भाषा के साथ नए–नए प्रयोग कर सकता है। अपनी भाषा का प्रयोग कर सकता है, शोषण के लिए, अपनी पहचान के लिए या फिर अपने अस्तित्व के लिए, लड़ने के लिए। साक्षरता में जुटे शिक्षाकर्मी के लिए यह समझना आवश्यक है कि उनके विद्यार्थी उसके सामने ज्ञान व भाषाओं की एक संपत्ति लिए बैठे हैं। ऐसी संपत्ति जिसका सदुपयोग करने से साक्षरता सार्थक हो सकती है। उदाहरण के लिए साक्षरता कार्यक्रम में हम सीखने सिखाने की बातों को भाषाओं से ही क्यों न शुरू करें? यदि वे अपनी भाषा लिखना सीख जाएंगे तो मानकीकृत भाषा स्वतः ही सीख जाएंगे। अपनी भाषाएं लिखने की प्रक्रिया में उनके सामने अपनी भाषाओं की समानताएं व अन्तर स्वाभाविक रूप से सामने आएंगे। इन सब बातों को वे आसानी से अपने पर्यावरण से जोड़ पाएंगे। भाषागत विश्लेषण से बौद्धिक क्षमता व सवाल उठाने की ताकत का सार्थक विकास संभव है।

भाषा–शिक्षण

बहुभाषिता केवल साक्षरता में ही नहीं अपितु भाषा–शिक्षण में भी बहुत मददगार हो सकती है। वास्तव में, हमारे लिए तो अनिवार्य है कि हम ऐसे तरीके निकालें जिनका आधार बहुभाषिता ही हो। दुर्भाग्यवश हम निरन्तर एकभाषी प्रदेशों में बनाए गए तरीकों व सामग्री का उपयोग अपने देश में करते रहे हैं। जब व्याकरण व अनुवाद पर आधारित तरीक़ों की हवा चली तो हमने अंग्रेज़ी ही नहीं संस्कृत व उर्दू भी उसी तरीक़े से पढ़ाई। फिर व्यवहारवाद का जमाना आया और हम सब बन्दलोव के कुर्ते से हो गए– अधिक अभ्यास, अधिक ज्ञान। एक ही चीज़ को बार–बार याद करो तो वह आदत सी बन जाएगी। व्याकरण व अनुवाद की छुट्टी। आजकल संप्रेषण आधारित तरीक़ों (कम्यूनिकेटिव एप्रोचेज) की बात होती है। फंक्शनलिज्म का जमाना है। काम होना चाहिए। परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त भाषा बोलनी व लिखनी आनी चाहिए। मुझे कभी यह समझ में नहीं आया कि एकभाषी समाज में स्थापित मानदंडों से आप बहुभाषी समाज की क्षमताओं को कैसे नाप सकते हैं? अक्सर आपने सुना होगा कि भारत में अंग्रेज़ी के स्तर बहुत तेज़ी से गिर रहे हैं और कई भारतीय अंग्रेजी वाक्यों व अभिव्यक्तियों को लेकर भारतीयों का काफ़ी मज़ाक़ उड़ाया जाता है। लेकिन क्या कोई एकभाषी अंग्रेज़ी बोलनेवाला भोजपुरी,

हिन्दी या तमिल जैसी अन्य भाषाएं भी बोलता है? जो बात साक्षरता के संदर्भ में कही है वही मुझे भाषा शिक्षण के संदर्भ में भी कहनी है। एक कक्षा है आपके सामने जो एकभाषी नहीं है। अलग–अलग भाषाएं बोलनेवाले कई बच्चे हैं, उस कक्षा में इस बात को नकारने की बजाय या एक समस्या समझने की बजाय इसका अत्यधिक क्रियात्मक उपयोग कक्षा में ही हो सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए आपकी कक्षा में तीन–चार अलग–अलग भाषाएं बोलनेवाले बच्चे हैं। यह कोई अनूठी बात नहीं। दिल्ली के किसी भी स्कूल में हिन्दी, भोजपुरी, बंगाली व तमिल बोलनेवाले बच्चे एक ही कक्षा में हो सकते हैं। गांवों या छोटे–मोटे शहरों में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती है। होशंगाबाद (मध्यप्रदेश) के किसी भी मिडिल या हाईस्कूल की कक्षा में अक्सर बुन्देली, मराठी, हिन्दी व गोंडी बोलनेवाले बच्चे साथ–साथ पढ़ते हैं। एक गतिविधि पर ग़ौर कीजिए। आठवीं कक्षा मानकर चलिए। अध्यापक बच्चों से पूछकर हिन्दी के कुछ शब्द बोर्ड पर लिख देता है। फिर उन्हीं से उनके बहुवचन पूछकर लिख देता है। अध्यापक का काम लगभग ख़त्म। अब तमिल बच्चा उठाकर उन्हीं शब्दों के एकवचन या बहुवचन सभी बच्चों को सिखाता व लिखवाता है। देवनागरी लिपि में तमिल लिखी जा सकती है। कोई भी भाषा किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। अध्यापक भी इस प्रक्रिया में कुछ तमिल शब्द सीख रहा है, बच्चों के साथ बैठा। इसके बाद इसी तरह बंगाली बच्चे की बारी आती है। काफ़ी मसाला हो गया दो दिन के लिए। बच्चे तीनों भाषाओं के एकवचन–बहुवचन बनाने के लिए नियम निकालते हैं व सारी कक्षा को समझाते हैं। अध्यापक को भी।

आपका यह पूछना अनुचित न होगा कि इसमें पढ़ाई क्या हुई? सच पूछिए तो काफ़ी पढ़ाई ही नहीं अपितु और भी बहुत कुछ हुआ। बच्चों व अध्यापक के बीच का फासला कुछ कम हुआ। दूसरे, बच्चों को यह अहसास हुआ कि उनकी भाषा का भी स्कूली पाठ्यक्रम में कोई स्थान है। जब बच्चे और अध्यापक मिलकर यह समझते हैं कि बुन्देली भी उतनी ही नियमबद्ध व व्याकरणयुक्त है जितनी हिन्दी तो बुन्देली बोली के लिए उनके दिल में जो एक अनादर की भावना बनी हुई थी, दूर होने लगती है। चौथे, भाषाई संरचना के प्रति बच्चे जागरूक होते हैं– भिन्न–भिन्न भाषाओं की समरूपता व अन्तरों को पहचानने लगते हैं। वास्तव में यही व्याकरण है। पांचवां, जो कि शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, वे एक ऐसी प्रक्रिया से गुजरते हैं जिसे सामान्य रूप से वैज्ञानिक माना गया है।

बौद्धिक विकास

विज्ञान व वैज्ञानिक तरीक़े की क्या परिभाषा हो? इस पर काफ़ी वाद–विवाद है। लेकिन शायद इस बात पर कोई विशेष असहमति न हो कि सामग्री या आंकड़े एकत्रित करना, उनका समरूपता या किसी अंतर के आधार पर अलग–अलग वर्गीकरण करना व उस वर्गीकरण के आधार पर कुछ नियम बनाना और फिर उन नियमों को और अधिक सामग्री पर जांचना वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है और जब बच्चे बार–बार इस प्रक्रिया से गुज़रते हैं तो स्वाभाविक रूप से उनका बौद्धिक विकास होता है।

पहले ऐसा माना जाता था कि बहुभाषिता व बौद्धिक स्तर में एक विपरीतात्मक रिश्ता है– जैसे–जैसे बहुभाषिता बढ़ती है, बौद्धिक स्तर घटता है। इस तरह की मान्यताएं व शोध कार्यक्रम जरूरी भी थे। एकभाषी उपनिवेशवादियों के लिए, जो बहुभाषी देशों पर राज करना चाहते थे। लेकिन आज पूरी तरह से सिद्ध हो चुका है कि बहुभाषिता व बौद्धिक स्तर में सीधा रिश्ता है– जैसे–जैसे बहुभाषिता बढ़ेगी बौद्धिक स्तर भी ऊंचा होगा।

हमारे पास तो पहले ही भंडार है बहुभाषिता का। हम क्यों न प्रयास करें ऐसी पाठन सामग्री बनाने का, पढ़ाने के ऐसे तरीक़े निकालने का व मूल्यांकन के ऐसे मापदण्ड बनाने का जिनका आधार बहुभाषिता हो। यह कोई कठिन कार्य नहीं है। केवल हमें अन्धे होकर एकभाषीय संदर्भ में उपजे तौर–तरीक़ों के अनुकरण को बन्द करना होगा।

रमा कांत अग्निहोत्री – दिल्ली विश्वविद्याल में भाषा शिक्षण करते हैं। भाषा और शिक्षा के मसलों पर निरंतर शोध एवं लेखन करते हैं।

समझ का माध्यम : एक परिसंवाद

संजय तिवारी, विद्या डांगे एवं बी.आर. साहू

एनसीईआरटी के भाषा विभाग द्वारा 'समझ का माध्यम' पर एक परिसंवाद शृंखला आयोजित की गई। इस शृंखला का प्रथम चरण पटना, द्वितीय चरण वाराणसी और तृतीय चरण उदयपुर में दिनांक 5 एवं 6 फरवरी 2009 को आयोजित किया गया। विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में आयोजित इस दो दिवसीय परिसंवाद शृंखला पर चर्चा की गई।

सेमीनार के उद्देश्यः

- शिक्षा का माध्यम बच्चों की मातृभाषा हो इस हेतु एक सकारात्मक सोच बनाना।
- ज्ञान निर्माण में बच्चों की मातृभाषा के महत्त्व को बताना ।
- मातृभाषा को मध्यस्थ भाषा के रूप में बढ़ावा देना ।
- बहुभाषा शिक्षा को बढ़ावा देना ।

बच्चों की भाषा और समझ

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में इस बात की सिफ़ारिश की गई है कि बच्चों के घर की भाषा स्कूल में भी उनकी समझ का माध्यम बने ताकि बच्चे रटने की बजाय समझकर पढ़ने की दिशा में आगे बढ़ें। शिक्षा उनके लिए बोझ न बने, आनंददायी अनुभव बने। वर्तमान समय में बच्चों की भाषा व स्कूल की भाषा के मध्य एक गहरी खाई बन गई है। बच्चा जब स्कूल आता है तो वह 5000 शब्दों की शब्दावली लेकर आता है किन्तु जब शिक्षक बच्चे को खड़ा कर डंडे की भाषा से पढ़ाता है तो उसके सारे शब्द लुप्त हो जाते हैं फिर समझ का माध्यम उसकी अपनी भाषा न होकर शिक्षक की भाषा हो जाती है। धीरे धीरे उसके शब्द मर जाते हैं, और वह स्कूल की भाषा के शब्द सीखने लगता है क्योंकि स्कूल की भाषा सीखना बालक के लिए मज़बूरी होती है। उसे परीक्षा देकर पास होना होता है यह ज्ञान पूर्णतः रटंत प्रणाली पर होता है। आज़ादी के बाद के शिक्षा संबंधी समस्त दस्तावेज़ों में मातृभाषा को समझ का माध्यम बनाने की बात कही गई है ताकि बालक को स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त हो सके। लेकिन आज लगभग 60 वर्षों के बाद भी ऐसा नहीं हो सका। घर की भाषा और स्कूल की भाषा के बीच का फ़ासला बढता चला जा रहा है। अंग्रेज़ी सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं के मध्य संवाद टूटता जा रहा है। बच्चों पर मानसिक बोझ इस क़दर बढ़ता जाता है कि उनकी अपनी समझ, अपनी अभिव्यक्ति कहीं दबकर रह जाती है। देश की 1652 भाषाओं में मात्र 47 भाषायें ही स्कूल में बच्चों की समझ का माध्यम बन सकी हैं, बाक़ी सब अब भी ख़ामोश हैं। यह ख़ामोशी कई संस्कृतियों, कई समाजों, कई भाषाओं और करोड़ों बच्चों के हमेशा के लिए ख़ामोश होने का इशारा है यह सोचना होगा। बच्चा जन्म के बाद जिस भाषा, भाषिक परिवेश में विद्यालय जाने के पहले तक रहता है वह उसकी अस्मिता, गरिमा होती है। जैसे ही वह विद्यालय आता है तो विद्यालय की भाषा अचानक बच्चे की अस्मिता और गौरव का चोगा खींचकर उसके व्यक्तित्व को नकार कर अन्य भाषा का चोला पहना देती है। यह उसकी भाषिक अस्मिता और गौरव की हत्या है। प्रत्येक भाषा का अपना दर्शन व आचार संहिता होती है। किसी समुदाय की संस्कृति को जीवित रखने के लिए उसकी अपनी भाषा का प्रयोग आवश्यक है।

समझ और माध्यम भाषा

भाषा को विषय के रूप में पढ़ना तथा भाषा को माध्यम के रूप में पढ़ना दोनों में फ़र्क़ है । शिक्षक की भाषा, शिक्षाशास्त्र की भाषा, स्कूल की भाषा, बच्चों की भाषा, कौन सी भाषा बच्चों की समझ का माध्यम

बने यह एक विचारणीय बिन्दु है। डीपीईपी द्वारा जून 1998 में एक बेस लाइन सर्वे कराया गया था, जिसमें 6 हज़ार 644 विद्यार्थी सम्मलित हुए थे। ये समस्त विद्यार्थी कक्षा 4 के गणित विषय से थे। इन विद्यार्थियों को दो समूहों में विभाजित किया गया था। एक समूह वह था, जिनके घर की भाषा और विद्यालय की भाषा एक थी। दूसरा समूह वह था, जिनके घर की भाषा और विद्यालय की भाषा अलग थी । परिणाम बताते हैं कि दस में से छह विद्यालय के परिणाम बेहतर थे जिनके घर की भाषा और विद्यालय की भाषा एक थी। दो विद्यालयों के परिणामों में सार्थक अंतर नहीं था केवल दो ही विद्यालय ऐसे थे जिनके घर की भाषा और विद्यालय की भाषा अलग अलग होने के बावजूद परिणाम बेहतर थे। उपरोक्त सर्वे यह बताता है कि मातृभाषा यदि समझ का माध्यम बने तो सीखना आसान होता है तथा उनकी समझ सुदृढ़ होती है। सर्वे इस बात की भी पुष्टि करता है कि यदि बच्चों को घर की भाषा में पढ़ाया जाय तो परिणाम बेहतर आते हैं। पूरी दुनिया में भाषा को लेकर एक बहस चल रही है क्योंकि भाषा न सिर्फ़ विचारों की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है बल्कि यह संस्कृति की संवाहक भी होती है। ऐसे में इण्टरनेट भूमण्डलीकरण व नॉलेज इकोनामी के नाम पर बढ़ता अंग्रेज़ी वर्चस्व स्थानीय व भाषिक समृद्धि को निगलता जा रहा है। परिचित भाषा में जो अवधारणा बनती है वह बच्चों को प्रिय होती है। प्रारंभ में गणित और विज्ञान को मातृभाषा में सिखाना चाहिये किन्तु बाद में तकनीकी शब्दों का उपयोग करना चाहिये। जब कोई बच्चा किसी शब्द को बार बार सुनता है तो उसे सहज रूप में स्वीकार कर लेता है। अतः तकनीकी शब्दों के बारे में ज़्यादा चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। हमारी सारी लड़ाई अंग्रेज़ी भाषा से है किन्तु आज के संदर्भ में अंग्रेज़ी जानना भी आवश्यक है माध्यम चाहे जो भी हो। जब हम बच्चे की भाषा को नकारते हैं तो हम उसके अस्तित्व को ही नकारते हैं। इससे बच्चे स्कूली शिक्षा व्यवस्था से बाहर हो जाते हैं फिर सरकार उसे मुख्य धारा में लाने के लिए करोड़ों रुपये ख़र्च करती है। हमें नीति बनाते समय यह ध्यान देना चाहिए कि ये बच्चे हाशिये पर न चले जाएं। समझ के लिए किताबी भाषा की आवश्यकता नहीं है और पाठ्यपुस्तक हर भाषा में नहीं बन सकती। पाठ्यपुस्तक कुछ मानक भाषा में ही बने किन्तु शिक्षकों को उसमें छूट हो कि वे पढ़ाते समय स्थानीय भाषा का प्रयोग कर सकें।

बहुभाषिता

बहुभाषा शिक्षण की ज़रूरत पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि आदिवासी भाषायें बहुत छोटे से समूह द्वारा बोली जाती हैं जिनका शिक्षा में प्रयोग नहीं किया जाता है। संविधान का अनुच्छेद 350 ए यह सुनिश्चित करता है प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा। लेकिन जब आदिवासी बच्चे स्कूल आते हैं तो उन्हें एकदम नई भाषा मिलती है जो उनके परिवेश से बहुत भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में बालक शाला में आना बंद कर देता है। भाषागत दृष्टिकोण से बालक स्कूल में अपने आपको किसी अलग ही दुनिया में पाता है। मातृभाषा में समझ की गुजांइश ज़्यादा है। क्योंकि मातृभाषा में उन्हें दो ही कौशल सीखने पड़ते है पढ़ना और लिखना। सुनना और बोलना वे घर में ही सीख चुके होते हैं। किंतु अंग्रेज़ी या किसी अन्य भाषा के संदर्भ में उन्हें चारों कौशल सीखने पड़ते हैं। बहुभाषिक शिक्षा का उद्देश्य बच्चे को दो या तीन भाषाओं में दक्ष करना है। दूसरी भाषाओं को सीखने में मातृभाषा एक मज़बूत आधार तथा सेतु का काम करती है। कक्षा पहली में सिर्फ़ मातृभाषा में शिक्षा होनी चाहिए। दूसरी कक्षा में 80 प्रतिशत तथा तीसरी कक्षा में 60 प्रतिशत मातृभाषा का प्रयोग होना चाहिए। मातृभाषा तथा अन्य भाषाओं को सिखाने में अंतर है। अन्य भाषाओं के संदर्भ में हमें पहले मौखिक कौशल सिखाने होते हैं और फिर धीरे धीरे लिखित कौशल। किसी भाषा में प्रवीण होने के लिए 3 से 5 वर्ष लगते हैं तथा पढ़ने लिखने का कौशल हम सिर्फ़ एक बार सीखते हैं। एक बार यह मातृभाषा में विकसित हो जाए तो यह दूसरी सहभाषाओं में स्वतः ट्रांसफर हो जाता है।

भाषाओं में संवाद

स्वतंत्रता आंदोलन के समय अंग्रेज़ी

तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बीच बहुत सौहार्द्रपूर्ण संबंध था। यह सौहार्द्रपूर्ण संबंध 1947 तक क़ायम रहा किन्तु 1947 के बाद परिस्थितियां बदलीं। स्वतंत्रता के पूर्व हमारे बौद्धिक वर्ग ने हिंदी में बहुत काम किया किंतु आज़ादी के बाद हिंदी में रचनाकारों की संख्या घटी।

आज इतिहासकार भी हिंदी में लिखने के बजाय अंग्रेज़ी में लिखना ज़्यादा पंसद करते हैं। 1967 में अंग्रेज़ी विरोध के युग की शुरुआत हुई। अंग्रेज़ी के विरोध के फलस्वरूप मुट्ठीभर लोग ही अंग्रेज़ी में शिक्षा प्राप्त कर पाए और उनका प्रभुत्व बढ़ा। दूसरी तरफ़ अधिकांश लोग अंग्रेज़ी से दूर होते चले गए। इस तरह दो वर्गों का अभ्युदय हुआ। एक जो अंग्रेज़ी जानते थे, और दूसरे वे जो अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। पहले अंग्रेज़ी कक्षा 6 से प्रारंभ होती थी। शिक्षक यद्यपि अंग्रेज़ी बोल नहीं सकते थे किन्तु उनका व्याकरण बहुत अच्छा था। 1987 के आसपास संचार क्रांति हुई और तब आम लोगों को महसूस हुआ कि उनके बच्चे पीछे रह गए। अतः जगह–जगह अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों की स्थापना हुई। यह दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया थी और यह प्रतिक्रिया अभी तक जारी है। भारत में जैसे जैसे अंग्रेज़ी संपन्न होती गई हमारी अपनी भाषाएं पिछड़ती चली गईं। चीनी नेता अमरीकी राष्ट्रपति से मिलते हैं तो चीनी भाषा में बात करते है लेकिन हमारे नेता किस भाषा का प्रयोग करते हैं?

अंग्रेज़ी ज्ञान की भाषा के रूप में अन्य भाषाओं पर हावी हो रही है। हिंदी में भी ज्ञान की भाषा के रूप में स्थापित होने की क्षमता है लेकिन उपस्थित वक्ता का यह मानना था कि पिछले 15 वर्षों में अंग्रेज़ी समृद्ध हुई है जबकि हिंदी को महत्त्वहीन बना दिया गया हैं। विडंबना की बात है कि अंग्रेज़ी हिन्दी पर शासन कर रही है। उन्होंने सावधान किया कि हमें अंतर्विरोध में नहीं जीना चाहिए। भाषा के सम्मान को सुरक्षित रखने की यह आवश्यक शर्त है। यदि हिंदी की रचनाओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया जाए तो अंग्रेज़ी के महानतम लेखक भी कहीं नहीं ठहर पाएंगे। दो भाषाओं के बीच संवाद की आवश्यकता पर बल देते हुए स्पष्ट किया गया कि संवाद का अर्थ यह नहीं कि हमें ही उनसे सदा सीखना है क्योंकि वह हमसे श्रेष्ठ है। सामाजिक स्तर पर भी चेतना की आवश्यकता है ऐसे भी लोग जो हिंदी में बोलने के अवसर प्राप्त होने पर भी अंग्रेज़ी में बोलना चाहते हैं यदि अंग्रेज़ी प्रभुत्व की भाषा है तो फिर क्यों विज्ञापन हिंदी में ही होते हैं? एनसीएफ–2005 में कहा गया है कि अंग्रेज़ी अकेली नहीं है इसलिए अंग्रेज़ी को अन्य प्रांतीय भाषाओं के साथ देखने की ज़रूरत है। भाषा शिक्षण को थियेटर से भी जोड़ने की आवश्यकता है। अंग्रेजी को पश्चिमी उदाहरण के साथ नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। अनूदित पाठ का अधिक से अधिक प्रयोग करने की ज़रूरत है ताकि बच्चा उससे जुड़ाव महसूस कर सके। समय की आवश्यकता है कि हम अपने बच्चों को बहुभाषी बनाएं ताकि वे अंग्रेज़ी को संसाधन के रूप में प्रयोग में ला सकें। अंग्रेज़ी से घृणा करने के बजाय उसके साथ संवाद करने की आवश्यकता है।

संजय कुमार तिवारी – सीईआरसी, रायपुर में कार्यरत।
विद्या डांगे, बी. आर. साहू – एससीईआरटी, रायपुर,छत्तीसगढ़।

इंसान के सृजन में भाषा

बच्चा जिन शब्दों और अनुभवों को लेकर कक्षा में आता है, अमूमन शिक्षक उसे नकार देता है। यह नकारना दरअसल अस्मिता की अस्वीकृति भी है। इस क्रम में बच्चे की आत्मीय दुनिया के वे पांच हज़ार शब्द और उनसे जुड़ी स्मृतियां भी खो जाती हैं जो उसके स्कूल में आने से पहले तक तर्क, शृंखला निर्माण और अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग थी।

प्रस्तुत है एनसीईआरटी द्वारा विद्या भवन सोसायटी में दिनांक 5 एवं 6 फरवरी 2009 को आयोजित 'समझ का माध्यम' विषय पर सम्मेलन में दिगंतर के रोहित धनकर का बीज वक्तव्य।

मित्रो

मैं भाषा को लेकर कुछ मूल बातें कहने की कोशिश करूंगा। मोटे तौर पर चार चीज़ों पर मैं थोड़ी–थोड़ी बात करूंगा। जिन चार चीज़ों पर मैं बात करना चाहता हूं वे इस प्रकार हैं –

1. इंसान, भाषा और सामुदायिक जीवन का आपसी संबंध।
2. भाषा और इंसानी ज्ञान।
3. भाषा के संदर्भ में विद्यालय में क्या भाषा नीति हो सकती है?
4. प्राथमिक विद्यालय में मुख्य रूप से भाषा कैसी हो?

इस वक्त ऐसा लग रहा है कि भाषा के ऊपर जो बहस है वो लगभग सारी की सारी अंग्रेज़ी को महत्त्व देने के संदर्भ में है। एक हिस्सा भाषा पर होने वाली बहस का यह है कि सब चीज़ों में अंग्रेज़ी का बोलबाला है और अंग्रेज़ी में पढ़ाई होनी चाहिए। लेकिन ये एकमात्र बहस नहीं है? दूसरा हिस्सा बहस का यह भी है कि सारी पढ़ाई बच्चे की अपनी भाषा में, उसकी घर की भाषा में ही होनी चाहिए। कहीं ऐसा लगता है कि ये दोनों चीज़ें याने कि अंग्रेज़ी और मातृभाषा का उपयोग यह एक बहुत अजीब सा मिश्रण है। मैं बहुत संस्थाओं में गया हूं, मूल्यांकन किया है, मिला हूं उनसे। वे यह कहते हैं कि हम आदिवासी बच्चों की पहचान को बनाए रखना चाहते हैं मगर वे उनकी सारी शिक्षा अंग्रेज़ी में करते हैं।

ऐसे स्कूलों में आदिवासी बच्चे जब अंग्रेज़ी में भाषण देते हैं तो उनकी फोटो खींची जाती है, पोस्टर्स में लगाते हैं और बहुत खुश होते हैं। विडंबना की बात यह है कि बच्चे न विचार रख रह होते हैं, न बोलने का अंदाज़ उनका आदिवासी है, न पढ़ाने का अंदाज़ आदिवासी है और न ही भाषा आदिवासी है। लेकिन उनकी पहचान और अंग्रेज़ी भाषा में पढ़ाई ये दोनों चीज़ें एक साथ होती हैं। इस मसले को थोड़ा सोचने के लिए, समझने के लिए इन चार चीज़ों पर मैं कुछ बातें बारी–बारी से आपसे करना चाहूंगा। आपको लगेगा कि मैं थोड़ा अमूर्त से शुरू कर रहा हूं।

पहले तो हमें यह देखना पड़ेगा कि हम इंसान को किस नज़र से देखते हैं? क्या उसमें भाषा या सामुदायिक जीवन का इंसान के गढ़ने में, उसके सृजन में, उसके उद्‌भव में कुछ हिस्सा है? इंसान को लोग किस नज़र से देखते हैं? जितने भी नज़रिए हों, उनको दो हिस्सों में बांटा जा सकता है पतित देवत्व या विकसित जंतु। मेरे दिमाग़ में जो आ रहा है वो सभ्य जंतु आ रहा है। तो दो नज़र से आप इंसान को शायद देख सकते हैं। बहुत सारे नज़रिए हो सकते हैं। दोनों नज़रियों में से जिस भी नज़रिए को आप मानते हैं उसमें भाषा का महत्त्व केन्द्रीय है। इसको हम देखेंगे कि क्यों और कैसे वह केन्द्रीय है?

इससे पहले मैं एक बात कहना चाहूंगा

कि यदि इंसान को आप सभ्य जंतु के रूप में देख रहे हैं, तो संस्कृत जानवर के रूप में देख रहे हैं। मैं जानबूझकर सुसंस्कृत नहीं बोल रहा हूं क्योंकि मुझे पता नहीं कि ''सु'' में कोई प्रशंसा या मूल्यांकन का हिस्सा भी है क्या? संस्कृति को आप एक ऐसी नज़र से भी देख सकते हैं जिसमें आप मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं। उसके मूल मानस तलों को पकड़ रहे हैं और वो अच्छी है, बुरी है, इस झगड़े को अलग रखते हैं। यदि सभ्य जानवर की दृष्टि से देखते हैं तो भाषा का महत्त्व कहीं ज़्यादा बढ़ जाता है पतित देवत्व के बजाय। आजकल अधिकतर लोग इंसान को इसी नज़रिए से देखते हैं। मैं तो निश्चित तौर पर इसी नज़रिए से देखता हूं कि हम लोग एक सभ्य जंतु ही हैं। और इसमें जंतु होने में मुझे कोई हीन भावना, आपत्ति या गाली जैसा कुछ नहीं लग रहा है। तो फिर एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि जो बाक़ी जानवर हैं उनसे आप इंसान को अलग कैसे करेंगे? इंसान को यदि आप उनसे अलग करना चाहें, उसकी शारीरिक संरचना के अलावा तो आपको उसकी मानस संरचना में जाना पड़ेगा। और जब आप उसकी मानस संरचना में जाएंगे तब आप ये देखेंगे कि उसको मूल रूप से जो अलग करनेवाले तत्त्व हैं, ऊपर–ऊपर हम कई बार बातचीत करने में ये कहते हैं कि उनके पास मूल्य होते हैं, समाज में रहते हैं, एक दूसरे से अच्छा व्यवहार करते हैं वगैरह। इस प्रकार की बहुत बातें करते हैं। लेकिन यदि इनकी गहराई में जाएंगे तो हमें दो–तीन चीज़ें नज़र आएंगी। मुझे ऐसा लगता है कि हमें नज़र आएगा कि इंसान आत्मचेता है, वह ख़ुद की छवि को देखता है। दूसरों की छवि या पेड़ या दूसरे जानवर कैसे दिख रहे हैं ये तो अन्य जानवरों को भी दिखते हैं, लेकिन इंसान अपने आप से हटकर, अपने शरीर में से निकल कर ख़ुद को देख सकता है। तो वह कर्त्ता व दृष्टा एक साथ है। दृष्टा भाव अपने लिए हो पाना यह इंसान की एक ख़ासियत है क्योंकि उसके पास कल्पना और स्मृति है। और अब ये दृष्टा भाव भी है उसके पास। तो वो जो नहीं है उसकी कल्पना कर पाना और वो "होना चाहना" यही उसकी ज़िंदगी का, उसके मानस का हिस्सा बन जाता है। अर्थात अपनी वर्तमान परिस्थिति का एक प्रकार का मूल्यांकन करने की क़ाबिलियत और उस मूल्यांकन से संतुष्टि, असंतुष्टि ज़ाहिर करने की क़ाबिलियत। और यदि असंतुष्ट है तो कोई जो दूसरी छवि को अपनी गढ़ रहा है, उसकी तरफ़ बढ़ने की योजना बनाने की काबिलियत इंसान की ख़ासियत है। आप पाएंगे कि इंसान अपने आपको लगातार इस दृष्टि से गढ़ता रहता है।

पिछले 500 सालों में इंसानों ने अपने आपको काफ़ी बदला है। जानवर बदलते हैं सिर्फ प्रकृति के अनुकूलन की दृष्टि से। इंसान बदलता है अपनी योजनाबद्ध तरीक़े से कल्पना करके। इसलिए हम अपने आपको लगातार बदलते रहते हैं। यह सामूहिक तौर पर भी और व्यक्तिगत तौर पर भी सही है। इस दृष्टि से आप कह सकते हैं इंसान स्वयंचेता है और एक हद तक स्वयंभू है। वह अपने आपको ख़ुद सृजित करता है। अब सवाल यह उठता है कि भाषा के माध्यम का इंसान के अपने आपको सृजित करने का क्या लेना देना हो सकता है। ये बात अमूमन मानी जाती है कि संस्कृति का पूरा उद्‌भव प्रतीक बनाकर उसके माध्यम से अर्थ की सृजना कर पाने पर निर्भर है। जब प्रतीक बनाते हैं, अवधारणाएं बनाते हैं और उनके निर्णय में, अंदाज़ में, चुनाव में तर्क उपयोग करते हैं तो यह भाषा के बिना संभव नहीं है। बहुत सारी बातें ऐसी कही जाती हैं कि कुछ इस प्रकार की भी अवधारणा का फ़र्क ज्ञान हो सकता है। बिल्कुल हो सकता है कुछ चीज़ों के संदर्भ में हमारी आंतरिक अनुभूतियों के संदर्भ में भी कई बार हो सकता है। बहुत अनुभव भी हमारे वैसे हो सकते हैं। लेकिन जिस मानवीय ज्ञान के तहत हम अपने समाज के ज्ञान का विश्लेषण करते हैं ये वाला हिस्सा इस प्रकार की अवधारणा, फ़र्क ज्ञान से हो पाएगा। इसकी संभावना कम से कम मुझे नहीं लगती। अवधारणा में चीज़ों को संचालित करने के लिए मुझे भाषा बिना सारी चीज़ के विकास की संभावना नहीं लगती।

एक कदम आगे चलें तो आप पाएंगे कि हम बहुत कहते हैं कि भाषा संप्रेषण का माध्यम है। इसको हमें थोड़ा खोलना पडेगा। जब आप संप्रेषित करते हैं तो किसी दूसरे को संप्रेषित करते है। तो आप और आपके अलावा कोई और है जो आपको

एक सामुदायिक जीवन या साथ–साथ ज़िंदगी जीने का और जीवन के अनुभवों के आदान–प्रदान की तरफ़ ले जाता है। तो फिर एक ऐसा जीवन जिसमें आपके अनुभवों की साझेदारी है। उनमें जब आप संप्रेषित करने की कोशिश करते हैं तो उसमें भाषा उद्‌भूत होती है। यहां संप्रेषण का अर्थ थोड़ा बदल गया है। कई बार ऐसा लगता है कि संप्रेषण यानी मेरे पास कुछ है और वह मैं ज्यों का ज्यों दूसरे तक पहुंचा देता हूं। यहां संप्रेषण अर्थ का कांस्टिट्यूटिव हिस्सा है। संप्रेषण में ही अर्थ बनता है। संप्रेषण की प्रक्रिया में ही अर्थ का निर्माण होता है। अर्थ के निर्माण में ही इंसान का निर्माण होता है। तो कहीं ऐसा लगता है कि सामुदायिक जीवन, भाषा और स्वयं की सृजना करना ये बहुत गहरे तौर पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

इस बात पर मैंने इतना सारा जो समय लगाया है यह इसलिए कि अब हम यहां आ सके कि जब बच्चा अपने आपको इस नज़र से सृजित करना शुरू करता है उसमें आत्मचेतना का उद्‌भव होता है। जब वह अपने अनुभवों को भाषा के माध्यम से संजोकर उनको अर्थवान बनाने लगता है तब वह किस भाषा में ये सारी प्रक्रिया कर रहा होगा? साफ़ बात है कि वह अपने घर की भाषा में या मातृभाषा में करता है। मैं इन शब्दावली पर नहीं जाना चाहता अभी। लेकिन वो निश्चित रूप से अपने घर की भाषा में करता है। इसका मतलब यह हुआ कि हम इंसान लोग जब अपने गठन की कोशिश करते हैं, अपनी सृजना की कोशिश करते हैं तो वो मूलतः उनकी अपनी घर की भाषा में आरंभ होती है। हमारी परवरिश में, हमारे पूरे जीवन में केन्द्रक जो है वो आरम्भिक सृजन रहता है। उसके चारों ओर हम बहुत सारी चीज़ बुनते हैं, उसके चारों ओर हम बहुत सारा सीखते हैं। उसके चारों और हम बहुत सारे ज्ञान का निर्माण करते हैं। लेकिन हमारे केन्द्र में हमेशा वो ही चीज़ रहती है। इसीलिए इस बात को समझ सकते हैं कि हम जब परेशानी में या ग़ुस्से में होते हैं या भावनात्मक होते हैं तो अचानक हमारे जो अंतरंग शब्द होते हैं वो अमूमन अपनी उस पहली भाषा में आते हैं जहां हमने पहली बार उन चीज़ों का सामना किया। इस दृष्टि से देखें तो उसकी घर की भाषा उसकी सिर्फ़ दुनिया से व्यवहार करने की भाषा नहीं है। उसकी अस्मिता की भाषा, उसके "मैं" की भावना की भाषा है। "वो", "उसने", "हम" सबके व्यक्तित्व का एक लाज़मी हिस्सा है। उसको आप काटकर अलग नहीं कर पाएंगे। हालांकि उसको दबा सकते हैं। और जब दबाते हैं तो फिर उसके साथ क्या–क्या दबता होगा उसकी बात हम थोड़ा रुक कर करेंगे।

थोड़ी सी बात मैं करना चाहूंगा ''भाषा और इंसानी ज्ञान की''। एक हिस्से तक तो मैंने बात की है अभी इंसानी ज्ञान की अवधारणाओं को तर्क में पिरोकर उपयोग कर पाना, उनका निष्कर्ष में उपयोग कर पाना, अनुमान में उपयोग कर पाना और चुनावों में उपयोग कर पाना। यह सब हम भाषा के माध्यम से ही कर सकते हैं। मानवीय ज्ञान को आप देखें तो उसका बहुत सारा हिस्सा भाषा के आधार पर चलता है। यदि आप ज्ञान की परिभाषा को थोड़ा विकसित भी करें सिर्फ़ उनमें वक्तव्यों में जो ज्ञान दिया जा सकता है उसी को नहीं लें क्योंकि इस पर आजकल काफ़ी विचार हो रहा है। इस दृष्टि से यदि आप कौशल को भी देखें, दक्षताओं को भी देखें तो उसमें भी कम से कम अनुमान शामिल होता है। जहां भी आप अवधारणात्मक अनुमान की बात करते हैं, उस वक़्त भाषा की भूमिका या तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से होती है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि हर जगह प्रत्यक्ष भूमिका होती है। बहुत सारी जगह भाषा की परोक्ष भूमिका हो सकती है।

तो कहीं ऐसा लगता है कि इंसानी ज्ञान की संभावना, इंसान होने की संभावना भाषा के बिना नहीं है। इंसानी ज्ञान के सृजन की, संप्रेषण की, दूसरी पीढ़ियों तक पहुंचाने की और संरक्षण की संभावना भी भाषा के बिना नहीं है। ज्ञान की प्रक्रिया में भी वो ही सारी चीज़ें हैं जो अस्मिता के गठन में हैं, वे जुड़ी हुई हैं। कम से कम मेरे विचार में तो ऐसा नहीं है कि ज्ञान कोई बौद्धिक विलास लिए इंसान उत्पन्न करता है। ये उसकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में आनेवाली कठिनाइयां और उनसे संघर्ष में जिस प्रकार की मानसिक संरचनाएं गढ़ता है, उनको व्यवस्थित करता है उसमें से ज्ञान धीरे–धीरे बनता चला जाता है। हालांकि फिर हम जैसे कुछ लोग पैदा हो जाते हैं जो उसके

किसी एक डिसीप्लीन को लेकर उसको बिना ज़िन्दगी से जोड़े बहुत दूर तक ले जाते हैं। लेकिन उस वक़्त की बात के लिए तो तर्क करने की ज़रूरत नहीं है वो तो भाषा के बिना संभव ही नहीं है। लेकिन मैं जो अभी तक तर्क कर रहा था कि किसी भी स्तर पर इंसानी ज्ञान में यदि अनुमान शामिल हैं, चयन किन्हीं आधारों पर शामिल है, अमूर्त अवधारणाएं शामिल हैं तो वह बिना भाषा के संभव नहीं है। तो अभी तक हमने मोटे तौर पर दो बातें की हैं–

1. इंसान के सृजन में भाषा और सामुदायिक जीवन का बहुत मूल हिस्सा है।

2. इंसानी ज्ञान में भी भाषा और सामुदायिक जीवन मूल रूप से उसके केन्द्र में रहते हैं।

यदि ये दोनों स्थापनाएं ठीक हैं तो अब हम तीसरी बात पर आ आएं। हो सकता है कि इनसे आपकी असहमति हो। हो सकता है कि लोग कहें कि ये ठीक नहीं है तो शायद तर्क दूसरे ढंग से चले। लेकिन यदि ये दोनों चीज़ें ठीक हैं तो फिर हमें ये देखने की ज़रूरत है कि बच्चा जब स्कूल में आता है तो उसकी ज्ञान की दुनिया का आरम्भ पूर्व में ही हो चुका है। लेकिन औपचारिक आरंभ ज्ञान की दुनिया में किस नज़र से और किस भाषा में होना चाहिए।

मुझे लगता है कि हम अपने स्कूलों की चीज़ को भी नज़र में रखें तो उससे थोड़ी मदद मिलेंगी। अभी हम लोगों के कुछ ताज़े अनुभव हैं। दरअसल हम एक आदिवासी क्षेत्र में बच्चों के साथ काम कर रहे हैं। उनकी भाषा के संदर्भ में शिक्षकों और लोगों के मन में ये आम मान्यता है कि उनकी भाषा ज्ञान प्राप्ति और सोचने में समर्थ ही नहीं है। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। एक बार उदयपुर के ही सेमीनार में एक शोधार्थी ने यह बात कही थी कि आदिवासी बच्चों के सीखने में, लिखना–पढ़ना सीखने में बहुत ज़्यादा दिक़्क़त इसलिए होती है कि आदिवासी लोग परिकल्पना के स्तर पर नहीं सोच सकते, ये बड़ी अजीब–सी स्थापना लगती है। हालांकि परिकल्पना के स्तर पर सोच पाना इंसान की मूल प्रक्रियाओं में से है। लेकिन वो शोधकर्त्ती किसी कारण से इस नतीजे पर पहुंची होगी। मैं कहने की कोशिश यह कर रहा हूं कि ख़ासकर आदिवासी बच्चों के लिए और ग्रामीण भाषाओं के लिए इस प्रकार के दुराग्रह या इस प्रकार की भावनाएं सिर्फ़ आम लोगों तक सीमित नहीं है। शोधार्थियों में भी इस प्रकार की भावनाएं ख़ूब गहराई से जड़ जमाए हो सकती हैं।

इसी प्रकार से बच्चों के सीखने की सामर्थ्य का सवाल जो है वो यह मानकर चलते हैं कि ये बच्चे उतना नहीं सीख सकते जितना कि अन्य समुदायों से आनेवाले बच्चे सीख सकते हैं। अभी ज़िक्र किया कि बच्चे को स्कूल की कक्षा में जब शिक्षक खड़ा करता है तो वह अपने सभी पांच हज़ार शब्द भूल जाता है। एक तो मैं थोड़ा–सा आपको याद दिलाना चाहूंगा कि पांच हज़ार शब्द और उन पांच हज़ार शब्दों का संयोजन और उस संयोजन में हज़ारों तरीके! तो यह भाषा के मामले में बहुत ही समृद्ध चीज़ है और वह सारी की सारी भूल जाता है। यह करिश्मा शिक्षक कैसे कर पाता है? इस करिश्मे के पीछे एक जो चीज़ हम करते हैं वो उसकी भाषा को नकारकर करते हैं। उसको यह पता है कि मुझे बोलना तो है। उसको यह पता है कि मेरे पास बोलने को कुछ है भी। लेकिन उसको यह पता है कि उसको उस भाषा में नहीं बोलना है जिसमें वह सोच सकता है अपनी बात कह सकता है। उसको एक ऐसी भाषा में बोलना है जो शिक्षक के द्वारा वहां पर निर्धारित है। उस भाषा में बोलना जिसमें अभी तक न सोचा है न बोला है। इसलिए एक चुप्पी की संस्कृति वहां से शुरू होती है।

यह जो भाषा का नकारना है ऐसा लगता है कि कम से कम चार चीज़ों का नकारना इसमें शामिल है। इसमें और भी कई चीज़ें होंगी लेकिन चार चीज़ें मुझे बहुत स्पष्ट लग रही हैं। एक तो क्योंकि जब हम उसकी मातृभाषा को नकारते हैं तो हमने पहले बात की थी कि बच्चा अपने आपको सृजित ही मातृभाषा में करता है, इसलिए उसकी पूरी अस्मिता ही मातृभाषा में सृजित है। तो पहली बात तो यह है कि आप एक तरह से उसकी अस्मिता को ही नकार रहे हैं। दूसरी, जो महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि उसके ज्ञान प्राप्त करने का उपकरण, यदि ज्ञान को हम थोड़ा इस नज़र से देखें जिस नजर

से एनसीएफ–2005 देखता है। वहां एक बात यह कही गई है कि मानवीय ज्ञान मानव के अपने अनुभवों को भाषा के माध्यम से संजोकर अर्थवान बनाने की प्रक्रिया है। तो जो अनुभवों को आपने रेखांकित कर लिया और वह आगे और होनेवाले अनुभवों की व्याख्या करने में काम आएगा। इस तरह से प्रक्रियात्मक अनुभव ही ज्ञान है। दरअसल आप भाषा के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं और भाषा भी इस माध्यम से आगे बढ़ती है, विकसित होती है। तो ज्ञान को बनाने के प्रमुख उपकरणों में भाषा है। जब आप बच्चे की भाषा को स्कूल में नकारते हैं तो उसके ज्ञान को बनाने का जो उपकरण है, आपने उसके पूरे अवधारणात्मक (conceptual equipment) को, सारे औज़ारों को एक साथ खिड़की से बाहर फेंक दिया। अब आप यह कह रहे हैं कि आप अन्दर से खाली हो जाइए, आप अपने औज़ारों को खिड़की के बाहर फेंक दीजिए और फिर आप कक्षा में आइए और हम जो सिखाना चाहते हैं वही सीखिए। सीखने के शिक्षणशास्त्र (पेडागॉजी) में इस प्रक्रिया को समझने की कोशिश करते हैं। उसमें भी अमूमन यही बात दोहराई होती है। उसमें भी यह कहा जाता है कि सीखना चीज़ों को आपस में जोड़ने की प्रक्रिया है। जो पहले से मेरा अपना संहिताबद्ध ज्ञान है, जो नया अनुभव हो रहा है उसको मैं उससे जोड़ पाऊं, उसका उससे संबंध जोड़ पाना ही सीखने की प्रक्रिया है। यदि यह सीखने की प्रक्रिया है तो हम पहले ही कह चुके हैं कि यह भाषा के माध्यम से हो रही है। इन सारी चीज़ों में आप पाएंगे कि यह दोहराव होगा। अस्मिता, ज्ञान, सीखना उसकी जीवनदृष्टि, उसका पूरा का पूरा विश्व परिदृश्य भाषा के नकारने में सारी चीज़ें एक साथ नकारी जाती हैं। अब यह मसला सिर्फ़ ज्ञान का मसला नहीं है इसको एक कदम आप आगे ले जाकर देखेंगे तो सामाजिक समता का, सामाजिक न्याय का और उसकी अपनी स्वतंत्रता का मसला भी है। यदि आप इस प्रकार की शिक्षा की बात कर रहे हैं जो सबको बराबरी के अवसर दे और आप कुछ लोगों के सारे के सारे ज्ञान प्राप्त करने के, सीखने के उपकरण को नकारकर शिक्षा देना चाहते हैं, और कुछ लोगों के उपकरण को स्वीकार करके शिक्षा देना चाह रहे हैं तो आप समता की, समानता की बात तो नहीं कर रहे। इसमें सामजिक न्याय तो आप नहीं कर पाएंगे। यह तो कुछ–कुछ वैसी बात है जिसमें आप कहें कि दो लोगों को आपस में साथ मिलकर प्रतिस्पर्धा करनी है और एक के उपकरण ले लीजिए और दूसरे को सारे उपकरण के साथ उस प्रतिस्पर्धा में आने दीजिए। लोकतंत्र में सामाजिक न्याय और समता और स्वतंत्रता का मसला भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ज्ञान प्राप्त करने का और गढ़ने का है।

ऐसी स्थिति में सवाल यह उठता है कि हम क्या करें? क्या हम प्रत्येक बच्चे को उसकी अपनी भाषा में, स्थानीय भाषा में सारी चीज़ पढ़ाते रहें और उससे आगे नहीं जाएं? मैंने काफ़ी समय इस बात पर लगाया है कि स्थानीय भाषा कितनी महत्त्वपूर्ण है। इससे हम इस नतीज़े पर ज़रूर पहुंचते हैं कि आपको विद्यालय में उसकी भाषा को तहेदिल से और पूरे सम्मान से स्वीकार करना पड़ेगा। लेकिन भाषा उसके अलावा भी बहुत कुछ करती है। भाषा दुनिया को देखने के आपके दायरे को और दुनिया के लोगों से आपके सम्पर्क को सीमित भी करती है। तो आपने जहां पर स्थानीय भाषा में अपने आपको गढ़ा है, इस अस्मिता को और विस्तार देने के लिए ऐसी भाषाओं तक पहुंच भी आवश्यक है जो मानवीय समुदाय के ज़्यादा बड़े हिस्से तक पहुंच रही है। राजस्थान में आप कह सकते हैं हिन्दी एक ऐसी भाषा है। दुनिया के संदर्भ में अंग्रेज़ी या और भी भाषाएं होंगी। लेकिन भारत में अंग्रेज़ी को आप ऐसी भाषा कह सकते हैं जो ज्ञान तक पहुंचने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। सत्ता में भागीदारी के लिए भी यह भाषा महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से आप देखते हैं तो उसकी अपनी भाषा के साथ–साथ हिन्दी यहां पर उत्तर भारत में ख़ासकर राजस्थान में और अंग्रेज़ी भाषा भारत में भी महत्त्वपूर्ण चीज़ है।

तो अब सवाल उठता है कि यह कैसे हो सकता है? कुछ ठोस बातें इस प्रकार हैं –

- हमें बच्चे की भाषा को स्वीकार करना पड़ेगा, आरंभ में माध्यम के रूप में भी और हर तरह से।
- हमें हिन्दी को खोलना

पड़ेगा। हिन्दी की जो रूढ़ छवि हमारे पास है एक खास प्रकार की संस्कृतनिष्ठ, शुद्ध और उच्चारणवाली भाषा से हटना पड़ेगा। और हिन्दी में स्थानीय भाषा को उच्चारण के रूप में, उसके शब्दों के रूप में, उसकी वाक्य संरचना के रूप में, उसके मुहावरे के प्रवाह को निर्बाध रूप से आने देना पड़ेगा। मुझे ऐसा लगता है कि इससे स्थानीय समुदायों को भी बल मिलेगा और हिन्दी को भी। अभी जो हिन्दी इतनी रूखी–सूखी और दुर्बल हो रही है उसका एक कारण शायद यह भी है कि उसमें बहुत सारे जीवन–रस को आने में बाधाएं अलग–अलग वक़्त पर पैदा की गई हैं।

♦ बच्चा पांचवीं कक्षा तक आते–आते हिन्दी में सहज हो जाए, कम से कम दूसरों से बातचीत कर सके जितना अपनी भाषा में करता है, इसकी कोशिश करनी पड़ेगी। आख़िर में एक बात मैं अंग्रेज़ी के बारे में कहना चाहूंगा। इसमें थोड़ी–सी ज्ञान आयोग से मेरी असहमति भी मैं ज़ाहिर करना चाहूंगा। पूरे सम्मान के साथ मुझे ऐसा लगता है कि ज्ञान आयोग ने जो अनुशंसा की है वो शैक्षणिक दृष्टि से महत्त्वहीन और प्रतिभागी अनुशंसा है।

यह पहली बात थोड़ी व्यापक स्तर पर हमको देखनी पड़ेगी कि शिक्षा को आप मानव और समाज के सृजन की प्रक्रिया का हिस्सा मानते हैं या आर्थिक, वैश्विक अर्थ व्यवस्था में संघर्ष का औजार। ज्ञान आयोग शिक्षा को वैश्विक अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष के औज़ार के रूप में देखता है। ज्ञान आयोग मानव और समाज के सृजनवाले हिस्से को बहुत कमतर करके आंकता है। और इस दृष्टि से मशीनीकृत शिक्षा हो रही है उसके तहत अंग्रेज़ी की बात करते हैं। यदि इस दृष्टि से भी अंग्रेज़ी की बात करते हैं तो क्या शिक्षाशास्त्रीय शोधों में इसकी अनुशंसा की जाती है?

दुनिया में बहुत सारे देश ऐसे हैं जहां अंग्रेज़ी भाषा बच्चे पांचवीं या छठी कक्षा में आकर पढ़ते हैं। फिर भी उनकी अंग्रेज़ी अन्य लोगों से किसी भी तरह से कम नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि अंग्रेज़ी को बिना तैयारी के शिक्षक के द्वारा पढ़ाना ठीक नहीं है। अंग्रेज़ी को पहली कक्षा से शुरू करने की बजाय पांचवीं या छठी कक्षा में एक व्यवस्थित शिक्षणशास्त्रीय तरीक़े से समझदार शिक्षकों के साथ शुरू करना कहीं बेहतर चीज़ है।

''समझ का माध्यम'' दिनांक 5 एवं 6 फरवरी, 2009 को विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में आयोजित सेमीनार में रोहित धनकर द्वारा दिए गए वक्तव्य पर आधारित।

कन्नड़ व्यंग्य

बिल्ली की भाषा

लेखक : **पी.एस. रामानुजं**
अनुवादक : **बी. आर. नारायण**

कुछ दिन पहले दिल्ली में मैं अपने मित्र सूर्यप्रकाश चंद्रकिरण चतुर्वेदी के घर बैठा था। इतने में एक बिल्ली वहां आई। मैंने 'पूसी–पूसी' करके उसे बुलाया तो वह 'मियांव–मियांव' करती मेरे पास आ गई। यह देखकर मैं अनिर्वचनीय आनंदातिरेक से उछल पड़ा। इसका कारण केवल इतना ही था कि मेरे और बिल्ली के बीच भाषा की कोई समस्या नहीं थी। दिल्ली में पहली बार हिंदी, अंग्रेज़ी, पंजाबी आदि भाषाओं की समस्या से मुझे मुक्ति मिली। मेरे द्वारा इस प्रकार स्वाभाविक रूप से बुलाए जाने पर बिल्ली ने स्वाभाविक रूप से प्रतिक्रिया दर्शाई। इस प्रकार की सहज प्रतिक्रिया दिखानेवाले प्राणी इस बिल्ली को देखकर मुझे 'वसुधैव कुटुंबकम्' के वाक्य के सही अर्थ का साक्षात्कार हुआ।

आपके सम्मुख यह प्रश्न उठ सकता है कि इसमें कौन–सी विशेषता है? विशेषता यह है कि हमारे गांव के यानी मैसूर ज़िले के चामराज नगर के पास के चिक्कमूले गांव के पास वाले बेडमूडलू गांव की बिल्ली भी इसी तरह पूसी–पूसी करते ही मेरे पास आ जाती थी। हमारे गांव के चिक्कमाद शेट्टी ने कहा था कि इसे पूसी–पूसी पुकारते ही यह पास आ जाती है। मैं बिल्लियों से उनकी

उस सीख के अनुसार ही व्यवहार किया करता था। अब मैंने दिल्ली की बिल्ली के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया तो उसने भी हमारे गांव की बिल्ली–जैसी ही प्रतिक्रिया दिखाई। तब मुझे ज्ञानोदय हुआ कि बिल्लियों की भाषा एक–जैसी ही है। कन्नड़ की बिल्ली और हिंदी की बिल्ली एक–जैसी ही हैं। उसी तरह कन्नड़ और पंजाबी की बिल्ली भी एक ही–जैसी हो सकती हैं। इस प्रकार मुझे भाषा की व्याप्ति का ज्ञान हुआ। मेरी खुशी का कारण यह था कि हमारे बीच भाषा की इतनी जटिल समस्या के बावजूद ये बिल्लियां उसकी परवाह किए बिना ही कन्याकुमारी की विवेकानंद शिला से लेकर आसेतु हिमालय तक एक ही भाषा बोल रही हैं।

मार्जार की मियांव आवाज़ कितनी अद्‌भुत है! समस्त भारत में एक 'मियांव' शब्द है। क्या कर्नाटक की बिल्ली 'मियांव' के अंत में कन्नड़ भाषा की ऊकारांत ध्वनि का प्रयोग करती है अथवा क्या तमिलनाडु की बिल्ली को 'मियांव' के अंत में 'अन' का उच्चारण करते सुना है? नहीं न! हिंदी अथवा उर्दू की बिल्ली भी 'मियांव' ही बोलेगी। संस्कृतवाली बिल्ली को 'हे म्याऊं' अथवा म्याऊः' कहते कभी सुना है? कदापि नहीं! बिल्ली–बिल्ली की एक ही भाषा, वही प्यारा–सा 'मियांव' शब्द ही उसकी भाषा है। वह देशातीत है।

बिल्ली की भाषा जैसे देशातीत है वैसे ही कालातीत भी है। मेरा ऐसा विश्वास है कि भले ही ज़माना कैसा भी रहा हो, बिल्लियां 'मियांव' ही कहती आई हैं। साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि वे भविष्य में भी ऐसे ही बोलेंगी।

अति प्राचीन काल की यानी वैदिक काल की ही बात लें। भले ही ऋग्वेद हो या कोई अन्य वेद हो या फिर उपनिषद् का काल हो, बिल्लियां 'म्याऊं' ही कहती थीं, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। वह 'म्याऊं' नहीं कहती थीं, इस बात का भी उल्लेख नहीं है। तब भी ऋषियों के आश्रम में बिल्ली तो अवश्य रही होगी। संभवतः वातावरण प्रशांत होने के कारण प्राणी हिंसक नहीं होते थे और बिल्लियां आश्रम में चूहे नहीं खाती होंगी। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि वे 'म्याऊं' नहीं कहती थीं।

उसके बाद पौराणिक काल की बात लीजिए हिरण्याक्ष या हिरण्यकशिपु के महलों में भी बिल्ली तो रही ही होगी। गणपति का वाहन जब मूषक था तब उसका शत्रु मार्जार क्यों नहीं होगा? संस्कृत में मार्जार शब्द की उपस्थिति से ही पता चलता है कि बिल्ली अवश्य रही होगी। तब वह 'मियांव' क्यों नहीं कहती होगी? इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रामायण–महाभारत काल में बिल्लियां किसी और बोली में बोलती थी।

अब भविष्य की बात लें। महर्षि व्यास के भविष्य पुराण में भी बिल्ली के किसी और ढंग से बोलने की बात नहीं है। सारे मानव कलियुग के अंत में पापी होंगे, अधार्मिक होंगे, क्रूर होंगे, अलग–अलग भाषाएं बोलेंगे, यह भविष्यवाणी तो है पर बिल्ली 'मियांव' के सिवा कुछ और बोली बोलेगी, यह कहीं नहीं है। अतः यह सर्वसिद्ध बात है कि बिल्ली अपनी भाषा कलियुग के अंत में भी बदलनेवाली नहीं।

साभार – एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित नया जीवन, हिंदी कक्षा–8, भाग–3, पूरक पुस्तक।

आन दी नेचर एंड स्ट्रक्चर ऑफ लैंग्वेज

प्रो. राजेन्द्र सिंह, मांट्रियल विश्वविद्यालय, कनाडा से लिए गए

साक्षात्कार

का

दस्तावेज़

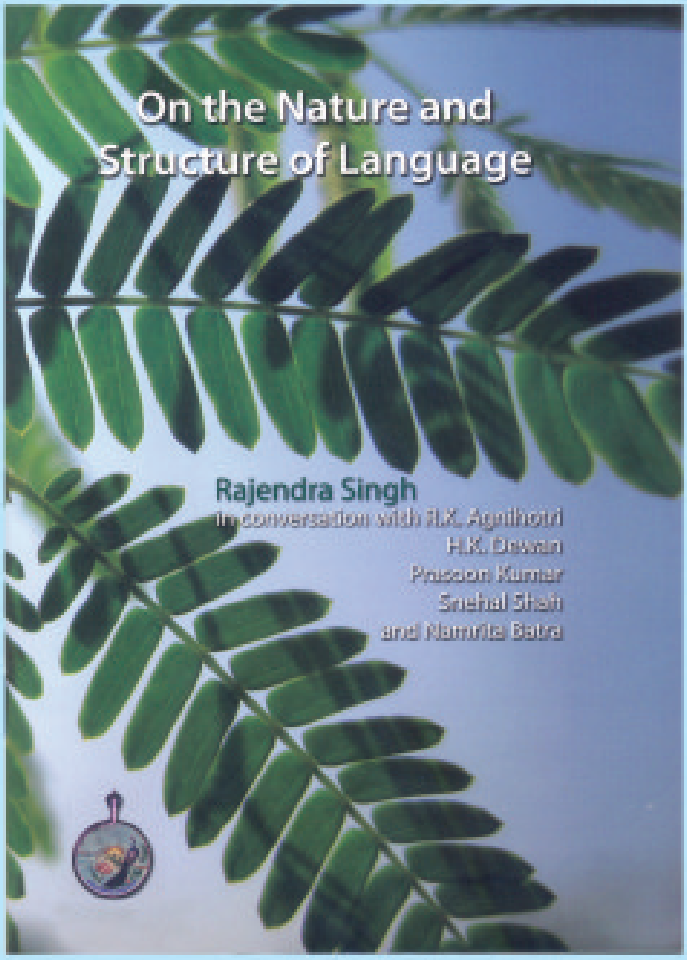

मूल्य : पचास रुपए

(हिन्दी में भी शीघ्र प्रकाश्य)

संपर्क करें :

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र

फतेहपुरा, मोहनसिंह मेहता मार्ग

उदयपुर (राज.) 313 004

फोन : (0294) 2451497

Email : vbsudr@yahoo.com

मातृभाषा

के.आर. शर्मा

(1)
मातृभाषा याने कि
नवजात बच्ची के कानों में पड़नेवाले शब्द
मां के दूध जैसे मीठे, गुनगुने,
बच्ची घर–आंगन में तुतलाते हुए बतियाती है
बच्ची को विचार व्यक्त करना सिखाती है
मां के दूध और मातृभाषा के
सहारे बच्ची बैठना, बोलना, चलना सीखती है

(2)
भाषा अपने को व्यक्त करने का ज़रिया है
भाषा इंसान को इंसान के क़रीब लाती है
भाषा ही तो इंसान को
जानवरों से अलग करती है
तरह–तरह के लोग
तरह–तरह की भाषाएं
जहां शब्द नहीं होते
वहां शस्त्र उठते हैं

(3)
वाणी स्कूल जाती है
स्कूल में वाणी चुप रहती है
वाणियां स्कूल से भाग जाती हैं
कई वाणियां स्कूल जाती ही नहीं
स्कूल में वाणियां इसलिए चुप रहती हैं
कि उन्हें स्कूल की भाषा में बोलना नहीं आता
स्कूल की भाषा वाणी के मुंह पर
ताला जड़ देती है

के. आर. शर्मा – विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र, उदयपुर में कार्यरत।